वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४५ अंक ३ मार्च २००७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ३

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४५ मार्च २००७ अंक ३

वैराग्य-शतकम्

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा-
न्संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।। ७५।।

अन्वय – यावत् इदं शरीरम् अरुजं स्वस्थम्, यावत् जरा दूरतः, यावत् इन्द्रिय-शक्तिः अप्रतिहता च, यावत् आयुषः क्षय न; विदुषा तावत् एव आत्म-श्रेयसि महान् प्रयत्नः कार्यः, तु संदीप्ते भवने कूप-खननं प्रति उद्यमः कीदृशः !

अर्थ – प्रज्ञावान व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर स्वस्थ और नीरोग है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियाँ सबल व सक्षम हैं और जीवन-शक्ति का क्षय नहीं हुआ है, तभी वह आत्मकल्याण (मोक्षप्राप्ति) का यथासाध्य प्रयास कर ले, क्योंकि मकान में आग लग जाने पर कुँआ खोदने का कार्य आरम्भ करने से क्या लाभ?

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसा-
न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ।।७६।।

अन्वय – तपस्यन्तः सन्तः सुर-नदीम् अधिनिवसामः, उत सविनयम् गुण-उदारान् दारान् परिचरामः, शास्त्र-ओघान् पिबामः, उत विविध-काव्य-अमृत-रसान् कतिपय-निमेष-आयुषि जने किं कुर्मः न विद्मः ।

अर्थ – मानव-जीवन केवल कुछ क्षणों के लिये ही है। समझ में नहीं आता कि इस अल्प अवधि में हम क्या करें – गंगाजी के तट पर निवास करते हुए तपस्या-रत रहें, या फिर गुणवती पत्नी की सप्रेम सेवा करें; धर्मशास्त्रों का अमृत-पान करें, या विविध काव्यों का रसास्वादन करें?

– भर्तृहरि

प्रबोध-पंचदशी

'विदेह'

साधो, दुनिया से क्या काम !
तेरा धन तेरे अन्तर में
प्रभु का मधुमय नाम ।।१।।

धन-यौवन का कौन भरोसा
पल में मिट जाएगा,
इक दिन उतर काल का पंछी
खेती चुग जाएगा;
पछताओगे सिर धुन-धुनकर
सोचो तो अंजाम ।।२।। साधो.

जब तक चित में विषय-वासना
आवागमन रहेगा,
बारम्बार जगत में आकर
सुख-दुख जीव सहेगा;
सब कुछ त्याग शरण लो उनकी
पाओगे बिसराम ।।३।। साधो.

दुर्लभ मानव जीवन पाकर
ढूँढो परम ठिकाना,
प्रभु के चरण कमल बिसराकर
भव से चित न लगाना ;
सत्संगति में भजन-भक्ति में
बीतें पल-दिन-याम।।४।। साधो.

जाती नहीं सहज ही मन से
जन-जीवन की आशा,
चाहे जितनी भी पी डालो
मिटती नहीं पिपासा;
फिर क्यूँ करते इनके पीछे
अपनी नींद हराम ।।५।। साधो.

करना सब कर्तव्य जगत के
सम्मुख जो भी आए,
निज कल्याण इसी में जानो
भाये या ना भाये;
प्रभु की सेवा मानो सब कुछ
उनके रहो गुलाम ।।६।। साधो.

नर-नारी का भेद न करना
क्षणभंगुर यौवन है,
माटी में मिलनेवाला यह
मृण्मय मानव तन है;
ध्यान करो प्रतिपल उनका ही
चिन्मय रूप ललाम ।।७।। साधो.

परचर्चा में भाग न लेना
सबमें गुण होता है,
नीम पुष्प से भी ज्यों मधुकर
रसकण ले लेता है;
असत् जनों के जीवन में भी
पाओगे गुणग्राम ।।८।। साधो.

मत रहना उत्सुक सुनने को
अपनी मान-बड़ाई,
सब छोड़ा है इतना भी क्या
छोड़ न सकते भाई;
प्रभु की कृपादृष्टि ही अब तो
अपना भेंट-इनाम ।।९।। साधो.

यश-अपयश चाहे जो होवे
मत करना परवाह,
भोग-कामना अति दुखदाई
छोड़ो इनकी चाह;
बीत न जाए जीवन यूँ ही
सब निष्फल बेकाम ।।१०।। साधो.

हानि-लाभ सुख-दुख के क्षण में
संयत रखना मन को,
जग के उथल-पुथल के भीतर
मत खोना जीवन को;
जाना होगा छोड़ सभी कुछ
सुत-दारा-धन-धाम ।।११।।

सबके भीतर देखो प्रभु को
सबमें वास उन्हीं का,
बन जाओगे प्रिय तुम उनके
कर सम्मान सभी का;
कण कण में हैं ओतप्रोत वे
सबको करो प्रणाम ।।१२।।

मन को नित्य लगाये रखना
उनके चरण कमल में,
जग में रहकर लिप्त न होना
ज्यों पंकज हो जल में;
करते रहना प्रतिपल उनका
स्मरण-मनन अविराम ।।१३।।

साक्षी बनकर रहना सीखो
द्वेष न हो न राग,
करना ही हो तो कर लेना
प्रभुपद से अनुराग;
खेल-तमाशे छोड़ो अब तो
घिर आई है शाम ।।१४।।

नाम-रूप से नाता तोड़ो
पकड़ो सच्चित् सार,
इसी भाँति तुम भवबन्धन से
पाओगे निस्तार;
फिर 'विदेह' होकर जाओगे
'परमहंस' के धाम ।।१५।।
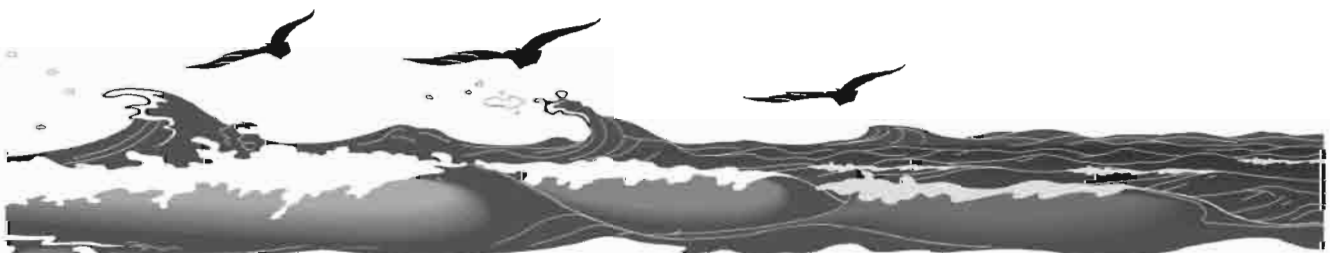
राज्य और वर्गों का शासन

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – वर्ग क्या है और वे कैसे राज्यों पर शासन करते हैं?

उत्तर – मानवी-समाज पर चारों वर्ण – पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मजदूर बारी-बारी से शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष है। ब्राह्मण के राज्य में आनुवंशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है – पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं, उनके अतिरिक्त किसी को कोई ज्ञान नहीं होता और उनके सिवा किसी को शिक्षा देने का अधिकार नहीं होता। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यही इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं।

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है।

उसके बाद वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने और खून चूसने की मौन शक्ति बड़ी भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, अत: वह पहले दोनों युगों में एकत्र किये हुये विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है।

अन्त में आता है – मजदूरों का शासन। इसका लाभ होगा – भौतिक सुखों का समान वितरण और इससे हानि होगी – कदाचित् संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा, परन्तु असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जायेंगे।[७५]

चीनी, सुमेरी, बेबिलोनी, मिस्री, कैल्डियावासी, आर्य, ईरानी, यहूदी तथा अरबी आदि जातियों के प्रथम युग में समाज की बागडोर ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ। वैश्यों के या वाणिज्य से धनवान होनेवाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र सर्वप्रथम इंग्लैंड-प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है। यद्यपि प्राचीन ट्रॉय व कार्थेज और उनकी अपेक्षा नवीन वेनिस और अन्य छोटे-छोटे व्यापार करनेवाले देश बड़े ही प्रतापशाली हुये थे, तो भी वैश्यों का सच्चा अभ्युत्थान इन देशों में नहीं हुआ था।

पुराने समय में राजघराने के लोग ही नौकरों और अन्य लोगों द्वारा व्यापार कराते थे और उसका लाभ स्वयं प्राप्त करते थे। इन इने-गिने मनुष्यों को छोड़कर दूसरे किसी को देश-शासन आदि के कामों में मुँह खोलने का अधिकार नहीं था। मिस्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति थोड़े ही समय प्रधान शक्ति रही। उसके बाद वह राजशक्ति के अधीन और उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कन्फ्यूशस की प्रतिभा द्वारा गढ़ी गई राजशक्ति ढाई हजार वर्षों से भी अधिक काल से पुरोहित शक्ति को अपनी इच्छानुसार चलाती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी हर प्रकार से चीनी सम्राट् के अधीन होकर दिन काट रहे हैं।

भारत में राजशक्ति की जय और उन्नति अन्य पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसीलिये मिस्री, बेबीलोनी और चीनी साम्राज्यों के बहुत दिनों बाद भारत-साम्राज्य स्थापित हुआ। उधर यहूदी जाति में राज-शक्ति अनेक प्रयत्न करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर जरा भी अपना अधिकार न जमा सकी। वैश्यों को भी वहाँ कभी प्राधान्य न मिला। प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छूटने की चेष्टा की थी। पर भीतर ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर बलवान रोम-साम्राज्य के दवाब से वह मृतप्राय हो गयी।

जैसे पुराने युग में राज-शक्ति के सामने बहुत प्रयत्न करने पर भी ब्राह्मण-शक्ति को हार माननी पड़ी, वैसा ही वर्तमान युग में हुआ। नयी वैश्य-शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिये टूट गये। जो कोई सिंहासन सभ्य देशों में किसी तरह बच गया, वह इसीलिये कि इससे इन्हीं नमक, तेल, चीनी या सुरा बेचनेवालों को अपने कमाये प्रचुर धन से अमीर और सरदार बनकर अपना गौरव दिखाने का मौका मिला।

इस नयी महाशक्ति का राजपथ पहाड़ों जैसी ऊँची तंरगोंवाला समुद्र है, इसके प्रभाव से बिजली बात-की-बात में एक मेरु से दूसरे तक खबर ले जाती है, इसके प्रबन्ध से एक देश का माल दूसरे में अनायास पहुँच जाता है और जिसके आदेश से सम्राट् तक थरथर काँपते हैं, संसार-समुद्र के उसी सर्वजयी

वैश्य-शक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग की चोटीवाले सफेद झागों में इंग्लैंड का सिंहासन विराजमान है।[७६]

प्रश्न – ब्राह्मण के हाथ में शासन कैसे आता है? और कैसे उसके हाथ से निकल जाता है?

उत्तर – पुरोहित-शक्ति बुद्धिबल पर ही खड़ी है, न कि बाहुबल पर। इसीलिये पुरोहितों के प्राधान्य के साथ-साथ विद्या का प्रचार होता है। इन्द्रियों की जहाँ गति नहीं, उस आध्यात्मिक जगत् की बात जानने और वहाँ की सहायता पाने के लिये मनुष्य सदा व्याकुल रहते हैं। साधारण लोगों का वहाँ प्रवेश नहीं। संयमी, इन्द्रियों के पार देखनेवाले और सत्त्वगुणी पुरुष ही उस राज्य में जाते हैं, वहाँ का समाचार लाते हैं और दूसरों को मार्ग दिखाते हैं। ये ही लोग पुरोहित हैं और मनुष्य-समाज के प्रथम गुरु, नेता और परिचालक हैं।

देवज्ञ पुरोहित देवता के समान पूजे जाते हैं। उन्हें एड़ी-चोटी का पसीना एक करके आजीविका नहीं कमानी पड़ती। सब भोगों में अग्र भाग देवताओं को प्राप्य है और पुरोहित देवताओं के मुख हैं। समाज उन्हें जाने-अनजाने प्रचुर अवकाश देता है और इससे वे लोग चिन्ताशील हुआ करते हैं। इसी कारण पहले-पहल विद्या की उन्नति पुरोहितों के प्राधान्य-काल में होती है। दुर्धर्ष क्षत्रिय-सिंह और भयकम्पित प्रजा-अजा-यूथ के बीच में पुरोहित दण्डायमान रहते हैं। सिंह की सब कुछ नाश करने की इच्छा पुरोहितों के हाथ के अध्यात्म-बल रूपी कशाघात से रोकी जाती है। धन-जन के मद में मत्त राजाओं की यथेच्छाचार रूपी आग की लपट सब किसी को जला सकती है, परन्तु धनजन-विहीन, तपोबल मात्र का भरोसा रखनेवाले पुरोहितों के वचन रूपी पानी से वह आग बुझ जाती है। इनके प्रभुत्व-काल में सभ्यता का प्रथम आविर्भाव, पशुत्व के ऊपर देवत्व की प्रथम विजय, जड़ के ऊपर चैतन्य का प्रथम अधिकार और प्रकृति के खिलौने, मिट्टी के लोंदे जैसे मनुष्य-शरीर में छिपे हुये ईश्वरत्व का प्रथम विकास होता है। जड़ और चैतन्य को पहले-पहले अलग करनेवाले, इहलोक और परलोक को मिलानेवाले देव और मनुष्य के दूत एवं राजा और प्रजा के बीच के पुल ये ही पुरोहित हैं। कितने ही भलाइयों के अंकुर इन्हीं के तपोबल, इन्हीं के विद्या-प्रेम, इन्हीं के त्याग और इन्हीं के प्राण-सिंचन से पनपते हैं। अत: सब देशों में पहली पूजा इन्हीं ने पायी है और इसीलिये इनकी स्मृति भी हम लोगों के लिये पवित्र है।

पर साथ ही दोष भी हैं। प्राण-स्फूर्ति के साथ-ही-साथ मृत्यु-बीज भी बोया जाता है। अन्धकार और प्रकाश साथ-साथ चलते हैं। बहुत-से ऐसे प्रबल दोष हैं, जो उचित समय पर यदि दूर न किये जायँ, तो समाज के विनाश के कारण हो जाते हैं। स्थूल पदार्थों द्वारा शक्ति का विकास सब कोई देखते हैं। अस्त्र-शस्त्र का छेदना, अग्नि आदि का जलाना या दूसरी क्रिया – ये सब बातें स्थूल प्रकृति के प्रबल संघर्ष में आकर सब कोई देखते और समझते हैं। इनमें किसी को सन्देह नहीं होता है, मन में दुविधा तक नहीं रहती है। परन्तु जहाँ शक्ति का आधार या विकास-स्थान केवल मानसिक है, जहाँ बल किसी शब्द में या उसके विशेष उच्चारण या जप में है अथवा किसी दूसरे मानसिक प्रयोग में है, वहाँ प्रकाश अन्धकार के साथ मिला रहता है। वहाँ विश्वास का घटना और बढ़ना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष में भी कभी-कभी वहाँ सन्देह हो जाता है। जहाँ रोग, शोक और भय को दूर करने या बैर साधने के लिये साधारण स्थूल उपायों को छोड़कर केवल स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण या मारण आदि का आश्रय लिया जाता है,[१] वहाँ स्थूल और सूक्ष्म के बीच के इस कुहरे से ढके रहस्यमय जगत् में वास करनेवालों के मन में भी मानो आप-से-आप धुन्ध छा जाती है। ऐसे मन के सामने सरल रेखा प्राय: पड़ती ही नहीं। यदि पड़ती भी है, तो मन उसे टेढ़ी कर लेता है। इसका फल यह होता है कि कपटता, हृदय की घोर संकीर्णता, अनुदारता और सबसे अधिक हानिकारक प्रचण्ड ईर्ष्या से पैदा हुई असहिष्णुता उनमें आ जाती है। पुरोहित के मन में यह विचार स्वाभाविक उठता है कि जिस बल से देवता मेरे वश में हैं, रोग आदि के ऊपर मेरा अधिकार है, भूत-प्रेत आदि के ऊपर मेरी विजय है और जिसके बदले मुझे संसार की सुख-स्वच्छन्दता तथा ऐश्वर्य प्राप्त हैं, उसे मैं दूसरों को क्यों दूँ? फिर यह बल बिल्कुल मानसिक है। इसे छिपाने में सुविधा कितनी है ! इस घटना-चक्र में पड़कर मनुष्य का स्वभाव जैसा हो सकता है, वैसा ही हो जाता है; सदा आत्म-गोपन का अभ्यास करते-करते स्वार्थपरता और कपटता और फिर, उनके विषैले फल आ जाते हैं। कुछ समय बाद इस आत्म-गोपन की प्रतिक्रिया भी उन पर आ पड़ती है। बिना अभ्यास और वितरण के प्राय: सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं और जो बच भी जाती हैं, वे अलौकिक दैवी उपाय से प्राप्त समझी जाने के कारण उनके सुधारने का प्रयत्न भी व्यर्थ समझा जाता है, नयी विद्या सीखना तो अलग रहा। उसके बाद वह विद्याहीन, पुरुषार्थहीन और अपने पूर्वजों का नाममात्र रखनेवाला पुरोहित-कुल अपने पैतृक अधिकार, पैतृक सम्मान और पैतृक आधिपत्य को बनाये रखने के लिये जिस-तिस उपाय से यत्न करता है। इसीलिये उसका अन्य जातियों के साथ बड़ा विरोध होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार, जराजीर्ण की स्थान-पूर्ति करने के लिये नव जाग्रत शक्ति की स्वाभाविक प्रचेष्टा के फलस्वरूप यह संग्राम आ उपस्थित होता है। इस संग्राम का फल ऊपर बताया जा चुका है। उन्नति के समय में पुरोहितों का जो संयम, तप और त्याग पूरा-पूरा सत्य की खोज में लगा था, वही अवनति के पूर्व काल में केवल भोग्य के संग्रह करने

एवं अधिकार के फैलाने में व्यय होने लगा। जिस शक्ति का आधार होने के कारण उनकी पूजा होती थी, वही शक्ति अब स्वर्ग से नरक को जा गिरी। अपने उद्देश्य को भूलकर पुरोहित-शक्ति रेशम के कीड़ों की तरह अपने ही जाल में आप फँस गयी। जो बेड़ी दूसरों के पैरों के लिये अनेक पीढ़ियों से बड़े यत्न से गढ़ी जा रही थी, वही अब उन पुरोहितों की ही गति को सैकड़ों फेरों से रोकने लगी। बाह्य शुद्धि के लिये छोटे-छोटे आचारों का जो जाल समाज को बुरी तरह फँसा रखने के लिये चारों ओर फैलाया गया था, उसी की रस्सियों में सिर से पैर तक फँसकर पुरोहित-शक्ति हताश-सी हो गयी है। उससे निकलने का कोई उपाय भी नहीं दिखता है। इस जाल को काटने पर पुरोहितों की पुरोहिताई बचती नहीं। जो पुरोहित इस कठोर बन्धन में अपनी स्वाभाविक उन्नति की इच्छा को बहुत दबी हुई देखते हैं और इसीलिये इस जाल को काटकर अन्य जातियों की वृत्ति का अवलम्बन कर धन का उपार्जन करते हैं, उनकी पुरोहिताई के अधिकार को समाज तुरन्त छीन लेता है। आधी यूरोपीय पोशाक तथा रहन-सहन और सँवारे हुए बाल रखने वाले ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व में समाज को विश्वास नहीं है। ...

जो लोग किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय पर ब्राह्मण जाति को अधिकारच्युत करने का दोष मढ़ते हैं, उन्हें भी जानना चाहिये कि ब्राह्मण जाति अटल प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही अपना समाधि-मन्दिर आप ही बना रही है। यही कल्याणकर भी है, क्योंकि प्रत्येक ऊँची जाति का अपने ही हाथों से अपनी चिता बनाना प्रधान कर्तव्य है।[७७]

प्रश्न – क्षत्रिय-शासन कैसा है?

उत्तर – दूसरी ओर, राजा में पशुराज के सब गुण-दोष विद्यमान हैं। क्षुधा-तृप्ति के लिये सिंह के विकराल नख आदि घास-पात खाने वाले पशुओं के कलेजों को फाड़ने में तनिक भी देर नहीं करते, फिर कवि कहता है कि भूखा और बूढ़ा होने पर भी सिंह अपने चरणों पर गिरे हुये सियार को कभी नहीं खाता। राजा की भोगेच्छा में बाधा डालने से ही प्रजा का सत्यनाश होता है। यदि वह विनीत हो, राजा की आज्ञाएँ शिरोधार्य करे, तो उसका कुशल है। केवल यही नहीं, पूरे समाज के एक ही अभिप्राय और प्रयत्न होने का अथवा सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ-त्याग का भाव किसी देश में, प्राचीन समय में तो क्या, आज भी पूरी तरह उपलब्ध नहीं हुआ है। इसीलिये समाज ने राजा-रूपी शक्ति-केन्द्र की सृष्टि की। समाज की शक्ति उसी केन्द्र में एकत्र होती और वहीं से चारों ओर सारे समाज में फैलती है। जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्राधान्य काल में ज्ञानेच्छा का पहला उन्मेष और बचपन में उसका यत्नपूर्वक पालन हुआ। उसी प्रकार क्षत्रियों के प्रभुत्व-काल में भोगेच्छा की पुष्टि और उसकी सहायता करनेवाली शिल्प-कलाओं की सृष्टि तथा उन्नति हुई।

महिमान्वित राजा क्या पर्णकुटियों में अपना ऊँचा सिर छिपाये रख सकता है, अथवा साधारण लोगों को मिलने वाले भोज्य आदि से क्या उसकी तृप्ति हो सकती है?

नरलोक में जिसकी महिमा की तुलना नहीं है और जिसमें देवत्व भी आरोपित है उसके भोग की वस्तुओं की ओर ताकना भी साधारण लोगों के लिये महापाप है, उनके पाने की इच्छा की तो बात ही क्या? राज-शरीर साधारण शरीर जैसा नहीं है, उसे अशौच आदि दोष नहीं लगते, अनेक देशों में तो यह विश्वास है कि उस शरीर की मृत्यु भी नहीं होती। इसलिये 'असूर्यम्पश्यरूपा' राज-महिलायें भी परदों में रहा करती हैं, जिससे जनसाधारण की आँखें उन पर न पड़े।

इस कारण पर्णकुटीरों की जगह अट्टालिकायें बनी और गँवारू कोलाहल की जगह पृथ्वी पर कला-कौशलवाले मधुर संगीत का आगमन हुआ। सुहावनी वाटिकायें, चित्त हरनेवाले चित्र, सुन्दर मूर्तियाँ, महीने रेशमी कपड़े, ये सब धीरे-धीरे प्राकृतिक जंगलों का स्थान लेने लगे। लाखों बुद्धिजीवी मनुष्य खेती के कठिन कामों को छोड़कर थोड़े शारीरिक श्रम से बननेवाली और सूक्ष्म बुद्धि का चमत्कार दिखानेवाली सैकड़ों कलाओं की ओर झुके। ग्राम का गौरव जाता रहा। नगर का अविर्भाव हुआ। ...

जैसे पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही एकत्र करना चाहते हैं, वैसे ही राजा लोग भी समस्त पार्थिव शक्तियों को अपने में ही केन्द्रत करने का यत्न करते हैं। ...

राजा अपनी प्रजा का माता-पिता है। प्रजा उसकी सन्तान है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिये और राजा को भी पक्षातीत भाव से प्रजा का अपनी सन्तान की तरह पालन करना चहिये। परन्तु जो नीति घर-घर के लिये उपयुक्त है, वही सारे समाज पर भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तब यदि पिता को उसके साथ मित्र की भाँति बर्ताव करना चाहिये, तो फिर समाज रूपी बच्चा क्या सोलह वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता?* इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य प्राप्त करता है, और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है। ...

* चाणक्य के राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ में कहा गया है – 'बच्चे का, पाँच वर्ष की अवस्था तक लालन और फिर दस वर्ष तक उसका ताड़ना किया जाना चाहिये, और जब लड़का सोलह वर्ष का हो, तो उससे मित्र के समान व्यवहार किया जाना चाहिये।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र करती है, वह फिर बाँटने के लिये है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती; सौंपे हुये धन में आत्म-बुद्धि हो जाती है, बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।

राजा जो प्रजा-समष्टि का शक्ति केन्द्र है, वह बहुत जल्दी भूल जाता है कि शक्ति उसमें इसलिये संचित हुई है कि वह फिर लोगों में हजार गुनी बँट जाय। राजा वेण* की तरह वह सारा देवत्व अपने में ही आरोपित कर दूसरों को हीन मनुष्य समझने लगता है। उसकी इच्छा का, चाहे वह भली हो या बुरी, विरोध करना ही महापाप है। इसलिये स्वयं ही पालने की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आ जाता है। यदि समाज बलहीन रहा, तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है और राजा-प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होकर शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बन जाते हैं। पर यदि समाज-शरीर बलवान रहा, तो शीघ्र ही अत्यन्त प्रबल प्रतिक्रिया उपस्थित होती है – जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं और सिंहासन अजायबघर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है।[७८]

प्रश्न – वैश्य-शासन की क्या विशेषता है?

उत्तर – जिस शक्ति की भौंहे टेढ़ी होने पर महाराजा भी थरथर काँपते हैं, जिसके हाथ के सोने की थैली की आशा से राजा से रंक तक बगुलों की भाँति पंक्ति बाँधे सिर झुकाये पीछे-पीछे चलते हैं, उसी वैश्य-शक्ति का विकास पूर्वोक्त प्रतिक्रिया का फल है। ...

वैश्य कहता है – ''पागल, जिसे तुम **अखण्ड-मण्लाकारं व्यापतं येन चराचरम्** – कहते हो, वही सर्वशक्तिमान मुद्रा-रूप है और वह मेरे ही हाथों में है। देखो, इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान हूँ। ब्राह्मण, इसके प्रभाव से तुम्हारा जप-तप, विद्या-बुद्धि मैं अभी मोल ले लेता हूँ। और महाराज, इसकी कृपा से तुम्हारा अस्त्र, शस्त्र, तेज, वीर्य मेरी कार्य-सिद्धि के लिये बरता जायगा। तुम ये जो बड़े-बड़े पुतलीघर और कारखाने देखते हो, वे मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शूद्ररूपी मक्खियाँ उसमें रात-दिन मधु एकत्र करती हैं। परन्तु वह मधु पियेगा कौन? – ठीक समय पर मैं उसकी एक-एक बूँद निचोड़ लूँगा।''

जैसे ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उदय-काल में विद्या और सभ्यता का संचय हुआ था, वैसे ही वैश्यों के प्रभुत्व-काल में धन का संचय हुआ। जिस रुपये की खनक चारों वर्णों का मन हरण कर सकती है, वही रुपया वैश्यों का बल है। वैश्य को सदा इस बात का डर लगा रहता है कि कहीं उस धन को ब्राह्मण ठग न ले और क्षत्रिय जबरदस्ती छीन न ले। इसी कारण अपनी रक्षा के लिये वैश्य लोग सदा एकमत रहते हैं। सूद रूपी कोड़ा हाथ में लिये वैश्य सबके हृदय में धड़कन उत्पन्न करता है। वह अपने रुपये के बल से राज-शक्ति को दबाये रखने के लिये सदा तत्पर है। वह इस बात से सदा सचेत रहता है कि राज-शक्ति उसे धन-धान्य संचय करने में बाधा न डाले। पर वह यह बिल्कुल नहीं चाहता कि यह राज-शक्ति क्षत्रियकुल से शूद्रकुल में चली जाय।

वणिक किस देश में नहीं जाता? स्वयं अज्ञ होकर भी वह व्यापार हेतु एक देश की विद्या-बुद्धि और कला-कौशल दूसरे देश में ले जाता है। जो विद्या-सभ्यता तथा कला-कौशल-रूपी रक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अधिकार में समाज के हृत्पिण्ड में जमा था, वही अब वैश्यों के बाजारों की ओर जानेवाले राजपथ रूपी नसों द्वारा सर्वत्र फैल रहा है। वैश्यों का यह उत्थान यदि न होता, तो आज एक देश का खाद्य-पदार्थ, सभ्यता, विलास तथा विद्या दूसरे देशों में कौन ले जाता?[७९]

इसमें कुचलने की और खून चूसने की मौन शक्ति अत्यन्त भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, इसलिये वह पहले दोनों युगों में एकत्र किये हुये विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है।[८०]

❖ (क्रमशः) ❖

* राजा वेण की कथा भागवत में है। यह अपने को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं से भी श्रेष्ठ बतलाता था। उसने यह आज्ञा दे रखी थी कि पूजा मेरी ही हो। एक समय ऋषि लोग उसे कुछ सदुपदेश देने आये, जिससे उसका अंहकार दूर हो; पर इस मदान्ध राजा ने उनका तिरस्कार किया और उन्हें भी अपनी पूजा करने की आज्ञा दी। इस पर इन ऋषियों को बड़ा क्रोध आया और उसी क्रोधानल में पड़कर राजा पंचत्व को प्राप्त हुआ। भगवान विष्णु के अवतार माने जानेवाले महाराज पृथु इसी वेण राजा के बाहू-मन्थन से उत्पन्न हुये थे।

सन्दर्भ-सूची –

७५. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ३८६; **७६**. वही, खण्ड ९, पृ. २०८-९; **७७**. वही, खण्ड ९, पृ. २१०-१३; **७८**. वही, खण्ड ९, पृ. २१३-१७; **७९**. वही, खण्ड ९, पृ. २१७-१८; **८०**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८६

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

– "हे राम, आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में, जिनकी जिह्वा-रूपी हंसिनी आपके गुणों-रूपी मोतियों को चुनती रहती है, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।"

इस दोहे के अर्थ पर और इसमें निहित तात्पर्य पर थोड़ा एकाग्र चित्त से ध्यान देने की चेष्टा करें। महर्षि वाल्मीकि से प्रभु ने पूछा – आप मुझे ऐसा स्थान बताइये, जहाँ मैं जनकनन्दिनी सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करूँ।

महर्षि ने चौदह स्थान बताये। उनमें तीसरे स्थान के रूप में महर्षि ने कहा कि आपका यश ही मानो निर्मल मानसरोवर है, जिसमें आपके गुणों के अगणित मोती विद्यमान हैं। जिन भक्तों ने अपनी जिह्वा को हंसिनी और आपके गुणों को मोती बना लिया है, अर्थात् जो अपनी हंसिनी रूपी जिह्वा से आपके गुणों का गान करते रहते हैं, उनके हृदय में निवास कीजिये।

वस्तुत: संसार में गुण को महत्त्व दिया जाता है। गुणी होना महत्त्वपूर्ण है, परन्तु हमारे यहाँ का जो दिव्य आध्यात्मिक चिन्तन है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुण चाहे कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो, पर उसके साथ अभिमान की समस्या बनी ही रहती है और उससे मुक्त होना व्यक्ति के लिये बड़ा कठिन है। व्यक्ति का गुण यदि उसमें अभिमान की सृष्टि करता है, तो जो लोग उसमें गुण देखते हैं, उसका भी परिणाम जो होना चाहिये, वह नहीं दिखाई देता।

मानस के प्रारम्भ और अन्त के दो प्रसंगों में इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। भरतजी ने भगवान श्रीराम से जानना चाहा कि सन्तों का लक्षण क्या है? थोड़ी देर पूर्व ही सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के रूप में चार सन्तों का आगमन हुआ था। प्रभु ने उन्हें देखकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया और अपना ओढ़ने का पीताम्बर उनके आसन पर बिछा दिया। भरतजी ने कहा कि जिन सन्तों को आप इतना सम्मान देते हैं, जिनके चरणों में नमन करते हैं, उन सन्तों के गुणों का आप वर्णन करने की कृपा करें।

प्रभु ने बड़े विस्तारपूर्वक बताया कि सन्तों में कौन-कौन से गुण होते हैं? पर उसके बाद प्रभु ने एक ऐसा वाक्य कहा कि प्राय: उसे कहने का प्रयोजन समझ में नहीं आता। उन्होंने असन्तों के दोष बताये, सन्तों के गुण बताये और अन्त में कहा कि वस्तुत: गुण और दोष 'माया' की ही रचना है –

सुनहु तात मायाकृत गुण अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक।। ७/४१

'माया' शब्द का तत्त्विक अर्थ तो बड़ा गहरा है, पर जादू के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता हैं। रावण, मेघनाथ आदि राक्षस बड़े मायावी थे। इस जादू के रूप में दिखनेवाली माया पर विचार कीजिये कि जादूगर यदि आपके कान को पकड़कर रुपये गिराने लगे या जादू से आपके सामने दोने में मिठाई भर कर दिखा दे और वही जादूगर यदि थोड़ी देर बाद भूत-प्रेत दिखाने लगे। कोलकाता में मैंने पी.सी. सरकार का बड़ा अनोखा जादू देखा। उनके द्वारा प्रस्तुत एक दृश्य में लगने लगा कि हाल में चारों ओर से भूतों का आक्रमण हो गया है। ऐसा विचित्र कि सचमुच सारा दृश्य भयावना हो गया। तो यदि कान से रुपये गिरने लगें, तो प्रसन्नता होगी, और भूत-प्रेत दिखाई दें, तो डर भी लगेगा। लेकिन आपका ध्यान जब इस बात की ओर जाता है कि ये दोनों तो जादूगर के खेल हैं, न वह रुपया सच था और न यह प्रेत सच है। जादू से मनोरंजन अवश्य हुआ, पर उसको सच न माने लें। ऐसा न हो कि जादूगर ने कान से रुपये गिरा दिये और आप उसके पीछे पड़ जायँ कि वह कला मुझे भी सिखा दीजिये, ताकि हम व्यापार न करके कान या नाक हिलाएँ और रुपये गिरने लगें। फिर आप यदि सोचें कि यह तो प्रेतविद्या का बड़ा पण्डित है और मैं प्रेतकष्ट से ग्रस्त हूँ; और उसकी पूजा करने लगे, तो यह नासमझी है।

भगवान ने बड़ा अनोखा सूत्र दिया। उन्होंने कहा कि ये दोष और गुण जादूगरी का एक खेल है। उसके लिये प्रभु 'मायाकृत' शब्द का प्रयोग करते हैं। अभी सन्तों के गुण बता रहे थे, असन्तों के दोष बता रहे थे। अब ऐसा क्यों कहा? वास्तविक गुण क्या है? गुण और दोष को अलग-अलग करके देखना, यह गुण नहीं है। जब गुण और दोष में भेद न दिखाई दे, तभी सच्चा गुण है। नया अर्थ हो गया।

गुण और दोष दिखना वस्तुत: अविवेक का परिणाम है। यह तो बड़ी विरोधाभासी बात लगती है। आप गुण और दोष का वर्णन कर रहे हैं और अन्त में कह रहे हैं गुण और दोष है ही नहीं; यह केवल माया का ही खेल है। पर उसके पीछे निहित तात्पर्य बड़े महत्त्व का है। जैसे मायावी जादूगर के द्वारा दिखाई जानेवाली हर वस्तु के पीछे एक कला होती है और उस कला का उद्देश्य होता है। वह धन या सम्मान के रूप में कुछ पाना चाहता है।

गुण क्या है और दोष क्या है? जब एक व्यक्ति सेनापति के रूप में युद्ध करे और सैकड़ों-हजारों शत्रु सैनिकों को हरा दे या उनका वध कर दे; तो उसे परमवीर, महावीर आदि चक्र दिया जायेगा और महान् वीर कहकर उसे सम्मानित किया जायगा। परन्तु एक डकैत यदि सैकड़ों व्यक्तियों को मार डाले, तो क्या उसको परमवीर चक्र या शौर्य की उपाधि मिलेगी? उसके लिये तो कहेंगे कि वह बड़ा हिंसक है, क्रूर है और डाकू है। एक सन्दर्भ में जो गुण माना गया, दूसरे में वह गुण की जगह दोष हो गया; क्योंकि देश या किसी आदर्श की रक्षा के लिये लड़ना वीरता है। और केवल दूसरों को कष्ट देकर, पीड़ित करके, हत्या करके, धन लूटना, यह मानो क्रूर, लोभी और हिंसक होने का परिचायक है। तो एक सन्दर्भ में जो गुण हुआ, वही दूसरे सन्दर्भ में दोष हो जाता है। फिर इस सन्दर्भ का एक व्यवहारिक पक्ष भी है, जिसके विषय में गोस्वामीजी ने बालकाण्ड के प्रारम्भ में लिखा – इस सारे संसार को मैं सीताजी तथा श्रीराम का स्वरूप मानता हूँ और दोनों हाथ जोड़कर सबको प्रणाम करता हूँ –

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।। १/८/२

सर्वत्र भगवान राम और सीता हैं, सारा संसार भगवन्मय है। सारे पुरुष श्रीराम हैं और सारी स्त्रियाँ साक्षात् सीता हैं। तो फिर कौन सन्त है और कौन असन्त? पर गोस्वामीजी ने सन्तों के गुणों और असन्तों के दोषों का वर्णन किया है। तब उन्होंने एक तात्पर्य बताया। उन्होंने कहा कि यह गुण और दोषों की समस्या बड़ी जटिल है। गुण और दोष नहीं हैं – यह बात पहले से मान लेने की नहीं है। पहले तो दोनों को अलग मानकर ही चलना होगा। इसमें भी एक महत्त्व का सूत्र है। जब हम किसी में गुण देखते हैं और हमारे जीवन में अभिलाषा उत्पन्न होती है कि ये सद्‌गुण मेरे जीवन में भी आने चाहिये, तो गुण-दर्शन का लाभ हुआ। और यदि किसी व्यक्ति में दोष है और उसे देखकर उस दोष को अपने जीवन में न आने देने की प्रेरणा हो, उस बुराई को छोड़ने की प्रेरणा हो, तो वह दोष-दर्शन भी सार्थक है। पर होता उल्टा है। जब हम गुण देखते हैं, तो उन्हें जीवन में नहीं लाते, अपितु गुणों से 'राग' करने लगते हैं – जिसमें गुण दिखाई देंगे, वे हमें बड़े अच्छे लगते हैं और हमें उनसे राग हो जाता है। तो गुणदर्शन से मनुष्य के जीवन में 'राग' आ गया। और दोष-दर्शन से दोष तो छूटा नहीं, बल्कि दोषी व्यक्ति से हमें 'द्वेष' हो जाता है। बड़ी विचित्र बात हो गई। यदि राग और द्वेष, दोनों गुण और दोष का परिणाम है, तब तो मनुष्य दोनों ही दृष्टियों से – राग का उदय हुआ तथा गुण भी जीवन में नहीं आया; दूसरी ओर दोषी के प्रति द्वेष का उदय हुआ, पर दोष का त्याग नहीं हुआ, तो गुण-दोष-दर्शन बड़ा घातक है। इसीलिये गोस्वामीजी बालकाण्ड के शुरू में कहते हैं – इसलिये कुछ गुणों तथा दोषों का वर्णन किया गया कि बिना पहचाने उनका ग्रहण या त्याग नहीं किया जा सकता –

तेही तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।। १/६/२

अब इस सूत्र में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुण तथा दोष का दर्शन ही राग तथा द्वेष की सृष्टि करनेवाला है और यह समाज में परिव्याप्त है। बहुत-से लोग आपको गुणी दिखते हैं। आप उन्हें बड़ा महत्त्व, सम्मान और स्नेह देते हैं। फिर अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें आपको दोष दिखाई देते हैं और आप उनसे घृणा करते हैं। परन्तु जो विवेकी है, वह विचार करके देखता है कि यह है क्या? इस दृष्टि से विचार करने पर उसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि संसार का यह गुण-दोष का स्वरूप दृष्टिगोचर होता ही है। यदि मैं कह दूँ कि किसी में दोष नहीं देखना चाहिये, तो आप दोष देखना तो नहीं छोड़ देंगे। यदि मैं कह दूँ कि किसी में गुण नहीं देखना चाहिये, तो आप गुण देखना नहीं छोड़ देंगे। गुण-दोष के परे जो ईश्वर हैं, माया के परे जो मायानाथ हैं, जादू के पीछे जो जादूगर है; उसके द्वारा हमें जो कुछ दिखाया जाता है, वह गुण-दोषमय जगत् जादूगर का कौशल है।

संसार में जो गुण-दोष दिखाई देते हैं, उससे मुक्त होने का एकमात्र उपाय यह है कि पहले से ही गुण और दोष से ऊपर उठने की बात न सोचें। प्रारम्भ में तो यही जानकर चले कि गुण क्या है और दोष क्या है और उसके बाद चेष्टा यह करें कि गुण-दर्शन भी हो और दोष-दर्शन भी हो; परन्तु गुण-दर्शन दूसरों में करे और दोष-दर्शन अपने में। इससे आगे बढ़ने पर आपको न किसी में गुण दिखाई देगा और न किसी में दोष। पहले दोष देखा, गुण देखा। देखकर दोषों से बचने और गुणों को लाने की चेष्टा की। उसके बाद में गुण-दर्शन और दोष-दर्शन का क्रम बदल दिया। अपने में दोष और दूसरे में गुण देखने लगे। और अन्त में, न दोष न गुण। अब दूसरे की ओर दृष्टि जाती ही नहीं, अपने दोष देखने का भी कोई अवकाश नहीं और दूसरों का गुण देखने का भी कोई अवकाश नहीं। तब व्यक्ति को दिखता है कि वस्तुत: गुण तो किसी व्यक्ति में नहीं एकमात्र ईश्वर में ही हैं।

यदि व्यक्ति में गुण दिखाई दे रहा है, तो वह ऐसा ही है जैसे आकाश में चन्द्रमा उदित हो और नीचे घड़े या किसी बर्तन के जल में उस चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो। यदि कोई व्यक्ति उस प्रतिबिम्ब को सत्य मानकर उसे पकड़ने की चेष्टा करे, तो क्या उसे चन्द्रमा मिलेगा? परन्तु उस प्रतिबिम्ब को देखकर किसी की दृष्टि ऊपर आकाश में उदित चन्द्रमा की ओर जा सकती है कि वह कौन है? चन्द्रमा की ओर दृष्टि जाना ज्ञान है और बर्तन में दिखनेवाले चन्द्रमा को सत्य मान करके उसे पकड़ने की चेष्टा व्यक्ति का अज्ञान है।

भगवान श्रीराम अपनी बाललीला में जो कौतुक करते हैं, उसमें बच्चों जैसी चेष्टा भी है। बच्चों द्वारा जैसे कार्य होते हैं, वैसे ही कार्य श्रीराम द्वारा भी होते हैं। लेकिन यदि हम उसके अन्तरंग अर्थ पर विचार करें, तो श्रीराम की बाललीला क्या है? और श्रीकृष्ण की बाललीला तो बालकों के स्वभाव की पराकाष्ठा ही है। श्रीमद् भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण के चरित्र में बाललीला की जो घटनाएँ आपको पढ़ने-सुनने को मिलती हैं, उनमें से अधिकांश से तो यही लगता है कि किसी हठीले नटखट बालक के द्वारा जिस तरह के कार्य होते हैं, वैसे ही कार्य श्रीकृष्ण के चरित्र में हो रहे हैं। और श्रीराम की बाललीला को देखकर लगता है कि वे नटखट तो नहीं है, पर बच्चोंवाला स्वभाव तो उनका भी है।

एक बड़े प्रसिद्ध सन्त थे। वृन्दावन में निवास करते थे। सिन्ध प्रान्त के थे। पाकिस्तान बनने पर वृन्दावन में आकर रहने लगे। वे बहुधा भौतिक-राज्य की अपेक्षा भाव-राज्य में अधिक रहा करते थे। जब वे भाव-राज्य की बातें सुनाते, तो लोगों को हँसी भी आती और आश्चर्य भी होता था, पर वे भौतिक धरातल पर सत्य नहीं थीं। एक दिन उन्होंने एक बड़ी अनोखी बात सुनाई। उन्होंने कहा – भगवान श्रीकृष्ण का लोक गो-लोक है और श्रीराम का लोक साकेत-लोक। दोनों लोक आसपास हैं और उन दोनों के बीच एक दिव्य नदी की धारा बहती है। उनके उस साकेत-लोक में भी कौशल्या अम्बा थीं और महाराज दशरथ थे। कौशल्या अम्बा के मन में स्नान करने की इच्छा हुई और उन्होंने सोचा कि राम को भी स्नान करा दें। और ठीक उसी दिन यशोदा मैया के हृदय में भी यह बात आई कि आज बड़ा सुन्दर पर्व है, मैं भी चलूँ और कृष्ण को नहला लाऊँ। दोनों गयीं, तो दोनों में भेंट हो गई। दोनों गले मिलीं, फिर स्नान किया, बालकों को भी स्नान कराया। दोनों बालक थोड़ी देर नदी में खेलते रहे। फिर लौटने लगीं, तो अपनी-अपनी गोद में बालक को लेकर लौटीं। यशोदाजी स्नान करके जब बालक को लेकर घर लौटीं, तो बालक ने नन्दबाबा के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। इतना नटखट था, दण्डवत तो क्या, कभी प्रणाम भी नहीं करता था! और उसने बड़े आग्रहपूर्वक पिता से आशीर्वाद माँगा। यशोदाजी सोचने लगीं कि यह इतना बदल कैसे गया? उन्होंने यह सोचकर सन्तोष किया कि यह संग का प्रभाव होगा। राम के संग से जरा-सा सुधार आ गया है। इसका नटखटपना कम हो गया है। उधर जब कौशल्याजी अपने बालक को लेकर लौटीं, तो वह आते ही कूदकर जो उछले, तो उछलकर सीधे दशरथजी की गोद में जा पहुँचे और तुरन्त उनकी नाक पकड़कर हिलाने लगे। कौशल्याजी घबरा गईं कि यह क्या कर रहा है। आज तक तो इसने ऐसा कभी नहीं किया। उन्होंने सोचा कि यह जरूर नटखट कृष्ण के साथ रहने का परिणाम है। पर थोड़ी देर बाद पता चला कि दोनों आपस में बदल गये थे। दोनों देखने में एक जैसे थे और नदी में स्नान करने के बाद कौशल्याजी कृष्ण को और यशोदाजी राम को गोद में उठाकर चली गईं। बाद में जब रहस्य ज्ञात हुआ, तब दोनों माताओं ने बच्चों को बदल लिया। ऐसी लीला वे सुनाया करते थे।

यह बड़ी विनोदवाली बात लगती है कि ऊर्ध्व लोकों में श्रीकृष्ण और श्रीराम एक साथ हों और उनकी ऐसी लीला हो! उस लीला का एक लाभ तो यह है कि भक्त उसे सुनता है, तो बड़ा आनन्द आता है और जो ज्यादा बुद्धिमान होते हैं, उन्हें बकवास भी लगता है। परन्तु यदि आपको बाललीला का आनन्द लेना हो, तो आप इसका जैसे चाहें आनन्द ले सकते हैं। सूरदासजी ने श्याम-सुन्दर की बाललीला का विस्तार से वर्णन किया है। गोस्वामीजी ने भगवान राम की बाललीला का बड़ा मधुर चित्र प्रस्तुत किया है। इस लीला और चरित्र के प्रसंग में यही मानकर आनन्द होता है कि यहाँ भी साधारण बच्चों के जैसी चेष्टा दिखाई देती है।

इसके पीछे क्या कोई अन्तरंग अर्थ भी है? बाललीला में भगवान जो बच्चों-जैसा खेल किया करते थे, क्या उनका अवतार इसी के लिये हुआ था? भगवान कृष्ण का नृत्य करना, बंशी बजाना या माखन चुरा लेना – क्या इनका कोई गूढ़ अर्थ है? भगवान राम के चरित्र में जिन बाल-लीलाओं का वर्णन है, उनका दर्शन करने स्वयं भूतभावन शिव आते हैं, भक्त-शिरोमणि भुशुण्डि आते हैं और लीला का आनन्द लेते हुये अपने आप में धन्यता का अनुभव करते हैं।

यह अगुण ब्रह्म की सगुण लीला है। ब्रह्म तो वस्तुत: अगुण है। उसमें न गुण है, न दोष। वह निर्गुण है, निराकार है, अव्यक्त है, परन्तु भक्तों की भावना से वशीभूत होकर वह स्वयं को संसार में व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है। जैसे यदि कोई दवा कड़वी हो, तो व्यक्ति उसे लेने में हिचकता है। परन्तु यदि उसके साथ कोई मिठास हो, मधु या चीनी मिली हुई हो, तो उस कड़वी दवा को भी व्यक्ति आनन्द से ले लेता है। तो भगवान की लीला और भगवान के चरित्र में, उनका जो गुण है और सगुण के पीछे जो अगुण है, इसको

सामने रखकर व्यक्ति उन लीलाओं को देखता है, तो उनका आनन्द ले सकता है, रसास्वादन कर सकता है।

वह आनन्द तो संसार के बच्चों को भी देखकर आता है। बच्चे का खेल देखकर आप कितने प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी कथा में होता है। यहाँ तो बच्चों पर रोक है और रोक है तो उसका फल बड़ी शान्ति के रूप में सामने आता है। लेकिन बच्चे कभी कथा में आते हैं तो वे खेलने लगते हैं, चिल्लाने लगते हैं। वक्ता को बड़ा बुरा लगता है। श्रोताओं को भी लगता है, पर उसकी माँ को क्या यह लगता है कि मेरा बच्चा बड़ा चिल्ला रहा है! यदि उसको ऐसा लगता होता, तो वह लेकर ही क्यों आती?

बहुत वर्ष पहले जोधपुर में गया था। बच्चों को आगे बैठा दिया गया था। पहली बार गया था। नाटक-वाटक में बच्चे पहले बैठ जाते हैं, सामने बैठ जाते हैं और पीछे लोग बैठते हैं। वैसे ही कथा में बैठा दिया, तो बैठते ही मैंने अनुरोध किया कि बच्चों को उनके माताओं के पास या पीछे बैठाइये। एक सज्जन खड़े हो गये और बोले – महाराज, आपकी यह बात तो हमें जँची नहीं। – क्या? बोले – "बच्चे तो भगवान के रूप हैं। आप ऐसा क्यों कहते हैं कि उन्हें पीछे कर दिया जाय।" मैंने उनसे कहा – "बच्चे भगवान के रूप हैं, इसलिये तो उनको कथा सुनने की आवश्यकता नहीं है। हम लोग तो कथा सुनने-सुनाने आये है। पर भगवान को कथा सुनने की क्या आवश्यकता है!" तो यह एक व्यंग्य-विनोद की बात हो गई।

आप अपने घर में बच्चे की किलकारी सुनकर, उसका अटपटा खेल देखकर प्रसन्न होते हैं, पर दूसरों को बड़ी ऊँघ लगती है, बड़ा कष्ट होता है – बड़ा चिल्ला रहा है बच्चा, बड़ी बाधा डाल रहा है। तो यदि भगवान राम और भगवान कृष्ण की लीला का भी इतना ही अर्थ हो कि जरा आनन्द ले लीजिये, जरा हँस लिजिये, तब तो कोई उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। वह तो आप अपने घरों में कर लेते हैं। और तब उस लीला को बार-बार श्रीमद् भागवत में और श्रीराम-चरित-मानस में भी यह स्पष्ट रूप से दिखाने की चेष्टा की गई कि भगवान जब कोई लीला करते हुये दिखाई देते हैं, तो उस बाललीला के पीछे उसका एक तात्त्विक पक्ष है, आध्यात्मिक पक्ष भी है। लीला के मिठास का आनन्द लीजिये, हँस भी लीजिये, पर यदि आपकी दृष्टि लीला के तात्पर्य पर जायेगी, तो आप लीला का केवल क्षणिक आनन्द न लेकर उस लीला करनेवाले के दिव्य स्वरूप का आनन्द लेंगे।

इसीलिये माँ कौशल्या के जीवन में भी बाललीला का आनन्द है और वह लीला बिल्कुल बच्चों की तरह है। पर जब प्रभु को ऐसा लगा कि कौशल्या अम्बा को अपने दिव्य स्वरूप का भी आनन्द देना चाहिये, तो उन्होंने पूजागृह में उन्हें अपने विराट रूप का दर्शन कराया। भगवान कृष्ण ने यशोदा मैया के सामने भी उस प्रकार का प्रसंग उपस्थित किया और अपने मुख में विराट् रूप का दर्शन कराया। क्या उद्देश्य था इसका! भगवान कृष्ण जब लीला में विराट् रूप का दर्शन कराते हैं और भगवान राम भी जब कौशल्या अम्बा को बाललीला का आनन्द देते हुए इस विराट् रूप का दर्शन कराते हैं, तो इसका क्या प्रयोजन है? यह कि उस बाललीला में निमग्न हो करके माँ इतने आनन्द में तन्मय हो जाती हैं कि कब दिन बीता, कब रात गई, इसका पता ही नहीं चलता –

प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।
सिसु सनेह बस माता बालचरित कर गान ॥ १/२००

वे प्रतिदिन राम की उन लीलाओं का गान करती रहतीं। पर भगवान ने सोचा कि माँ ने तो बाललीला का आनन्द मुझसे माँगा था और वह मैंने दे दिया। पर यह आनन्द तो सबको अपने बच्चों में मिल जाता है, यदि मेरी माँ को भी उतना ही आनन्द मिला, तो मेरे बालक बनने से क्या लाभ?

तब भगवान राम अपने ढंग से दिव्य स्वरूप प्रकट करते हैं। कौशल्या अम्बा ने निर्णय लिया किया कि आज विशेष पर्व है, इसलिये मैं अपने कुल के इष्टदेवता भगवान रंगनाथ की पूजा करूँगी। उन्होंने स्नान किया और सोचने लगी – बालक जगा हुआ है, बालक खेलते हैं, चंचल होते हैं, वह पूजा में बड़ी बाधा डालेगा। कोई वस्तु खींच लेगा या मिष्ठान्न आदि भोग की कोई वस्तु देखकर ललचा जाय, तो बाधा पड़ेगी। इसका तो एक ही उपाय है कि बालक को सुला दिया जाय। उन्होंने श्रीराम को पालने पर सुला दिया और तब पूजागृह में गई। कौशल्याजी ने पूजा के लिये जो दिव्य व्यंजन बनाये थे, उन्हें मन्दिर में अपने इष्टदेव के सामने रख दिया था और उसके पश्चात् पर्दा डाल दिया था। थोड़ी देर बाद जब उन्होंने परदा हटाया, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिस बालक को वे सुला आई थीं, वही वहाँ पर बैठकर उन व्यंजनों का आनन्द ले रहा है।

पहले तो एक क्षण के लिये घबरा गईं कि यह तो अनर्थ हो गया, भगवान की पूजा के नैवेद्य को बच्चे ने जूठा कर दिया। कहीं भगवान रंगनाथ नाराज न हो जायँ। लेकिन फिर वे सोचने लगीं कि मैं तो इसे पालने पर सुला आई थी, अपने पैरों के बल अभी चल ही नहीं पाता, तो पालने से कैसे उतरा होगा? उसे आते हुए तो मैंने देखा ही नहीं। यह क्या हो रहा है। सोचा – जरा देख तो आयें कि बालक को मैंने सुलाया था, वह अब कहाँ है। जाकर देखती हैं, तो वह बालक उसी तरह से गहरी नींद में सो रहा था –

देखा बाल तहाँ पुनि सूता। १/२०१/५

वे फिर लौटकर पूजागृह में आईं। देखा – वही बालक नैवेद्य खा रहा है। दो बालकों को देखा। अब सोचने लगीं

कि यह क्या मुझे दिखाई दे रहा है ! कहीं मैं पागल तो नहीं हो गई हूँ ! यह मेरा मतिभ्रम है या कोई और बात है ! माँ को आकुल देखकर प्रभु रामभद्र के होठों पर हँसी आ गई –

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा ।
मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ।।
देखि राम जननी अकुलानी ।
प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी ।। १/२०१/७-८

और तब माँ ने अचानक पूजागृह में देखा, वे दीवालें या कोई पूजा की वस्तु नहीं हैं। भगवान ने बाललीला का आनन्द देने के साथ ही अपना अद्‌भुत अखण्ड रूप दिखाया, जिसके प्रत्येक रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड स्थित थे। उन्होंने असंख्य सूर्य, चन्द्र, शिव, ब्रह्मा, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी, वन, काल, कर्म, गुण, ज्ञान एवं स्वभाव देखे। ऐसी चीजें भी देखीं, जिनके बारे में किसी ने सुना ही नहीं था। सब प्रकार से प्रबल माया को देखकर कौशल्याजी अत्यन्त भयभीत होकर हाथ जोड़े खड़ी रहीं –

देखरावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्मंड ।।
अगनित रबि ससि सिव चतुरानन ।
बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन ।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ ।।
देखी माया सब बिधि गाढ़ी
अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ।। १/२०२/१-२-३

यह दृश्य दिखाने का भगवान का क्या उद्देश्य था? भगवान चाहते हैं कि इस लीला के रस और आनन्द के साथ माँ का विवेक भी जाग्रत रहे। फिर इसके पीछे कौशल्याजी के पूर्वजन्म का – सतरूपाजी का जो प्रसंग है, वह सूत्र वहीं मिल जाता है। महाराज मनु ने अपनी कामना व्यक्त करते हुए भगवान से कहा था कि मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। प्रभु ने मुस्कुरा करके कहा कि मैं अपने समान कहाँ ढूढ़ूँ, मैं ही तुम्हारा पुत्र बन जाऊँगा। उसके बाद प्रभु ने महारानी सतरूपा की ओर देखकर कहा – हे देवि, तुम्हारी जैसी रुचि हो, तदनुसार वर माँग लो –

देबि मागु बरू जो रुचि तोरे । १/१५०/७

यहाँ 'रुचि' शब्द बड़े महत्त्व का है। भोजन में तो यह आवश्यक नहीं है कि पति और पत्नी की रुचि एक समान हो। शतरूपाजी ने कहा कहा – प्रभो, मैं तो यही कहूँगी कि चतुर महाराज ने जो वर माँगा, वह मुझे बहुत प्रिय लगा। पर इतना होते हुये भी मैं आपसे कुछ और पाना चाहती हूँ –

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा ।
सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ।। १/१५०/८

उन्होंने कहा – हे नाथ, आपके अपने भक्त जो अलौकिक सुख और जो परम गति पाते हैं; आप कृपा करके मुझे भी वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणों का प्रेम, वही विवेक, वही रहन-सहन मुझे प्रदान कीजिये –

जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।। १/१५०/१०
सोइ सुख सोई गति सोइ भगति
सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु
मोहि कृपा करि देहु ।। १/१५०

शतरूपाजी ने एक ही वरदान में प्रभु से छह वस्तुयें माँग लीं – आपके भक्त के जीवन में जो सुख है, जो उनकी गति होती है, जो उनकी भक्ति है, आपके चरणों में जैसा प्रेम होता है, उनका विवेक जैसा होता है, उनकी रहनी जैसी होती है, ये छह वस्तुयें मुझे दीजिये।

एक सज्जन बोले कि स्त्रियाँ कुछ अधिक ही लोभी होती हैं। महाराज मनु ने तो एक ही वरदान से सन्तोष कर लिया और इन्होंने छह वरदान माँग लिये। पर ऐसा नहीं है। जैसे आप एक कमल को देखें – मूल में वह एक है, पर वही कमल प्रकाश में खिल जाय, तो आप देखेंगे कि उसकी अनेक पँखुड़ियाँ हैं। तो महाराज मनु का जो वरदान है, वह मानो बन्द कमल है, जिसमें कमल एक ही दिख रहा है और सतरूपाजी ने जो वरदान माँगा, वह मानो प्रभु-सूर्य के प्रकाश में विकसित कमल है और वे छह पँखुड़ियाँ मानो छह प्रकार की भक्ति हैं, भगवान ने दे दिया; पर उन्होंने छह में से एक बात को पुनः दुहरा दिया। प्रभु बोले – तुमने जो चाहा है, वह मैं दूँगा, पर तुम्हारा विवेक कभी नष्ट नहीं होगा –

मनु बिबेक अलौकित तोरें ।
कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ।। १/१५१/३

माँ ने जो छह वरदान माँगे, प्रभु ने वह सब दिया, पर उन्होंने जो दुहरा दिया कि तुम्हारा विवेक कभी नहीं मिटेगा, इसका तात्पर्य यह है कि प्रभु इस बात से प्रसन्न हुए कि माँ मुझे पुत्र रूप में प्राप्ति की अभिलाषा के बाद भी यह चाहती है कि उनका विवेक जाग्रत रहे। महाराज मनु को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया – प्रभो, वह विवेक आप इन्हीं को दीजियेगा, मुझे वह नहीं चाहिये। क्योंकि मैं चाहता हूँ कि आपको पूरी तौर से पुत्र ही समझूँ, प्रभु नहीं –

सुत विषइक तव पद रति होऊ । १/१५१/५

महाराज मनु ही आगे चलकर दशरथ हुए और सतरूपाजी ही कौशल्या बनीं।

❖ (क्रमशः) ❖

चरित्र की उदारता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

छान्दोग्य उपनिषद् में ईश्वर को 'भूमा' कहा है, जिसका व्यापक दृष्टि से अर्थ है 'महान्'। हमें ईश्वर को संकीर्ण धर्म-सम्प्रदायों और मनों के स्तर पर नहीं ले जाना चाहिए। ईश्वर महान् है - यथार्थतः महान्। उसकी महानता में सब कुछ सम्मिलित है। जब हम कहते हैं कि ईश्वर महान् है और दूसरे ही क्षण जब हम सोचते हैं कि ईश्वर ईसाइयों का है, या यहूदियों का, या हिन्दुओं का, या मुसलमानों का, तब हम अपनी ही बात कहते हैं। यदि ईश्वर महान् है, तो वह सब वस्तुओं से महान् होगा - समुद्र से महान्, आकाश से महान्, मन से महान्, जीवन से महान्, मृत्यु से महान्, सभी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं से भी महान्। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ईश्वर केवल मानव-इतिहास का पूरक है; ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह किसी विशेष जनसमूह का उद्धारक है। यह सत्य है कि ईश्वर काल के अन्तर्गत होनेवाली समस्त घटनाओं और इतिहास की विशिष्टताओं के लिए उत्तरदायी है, पर उतने में ही वह चुक नहीं जाता। वह अक्षय है। वह इतिहास से, काल से, हमारे मत-सम्प्रदाय और ग्रन्थों से भी महान् है। ईश्वर का एवंविध चिन्तन करने से हममें चरित्र की यथार्थ भव्यता निखर उठेगी। हम प्रायः वर्षों धार्मिक जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु हम अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को उदार नहीं बनाते। इसका कारण यह है कि हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा संकुचित और साम्प्रदायिक होती है। इससे हमारे चरित्र में परिवर्तन नहीं हो पाता। हम जैसे संकीर्ण मानव जन्मे थे, वैसे ही रहते हैं। हम धार्मिक कहाते तो हैं, पर हमारा हृदय नहीं खुलता। अतः हमें महान् ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए और उसकी महानता का भागी बनना चाहिए। महानता का अर्थ है - आध्यात्मिक पूर्णता - अज्ञान, संकीर्णता, कट्टरता और द्वेष से मुक्ति, राग और पक्षपात से मुक्ति।

चरित्र को उदार बनाने के लिए यही साधन-प्रणाली है। यदि हममें धैर्य और अध्यवसाय है, तो अवश्य ही हमें साधना में सिद्धि मिलेगी। उस सिद्धि का रूप कैसा होगा? तब हम भी सन्त फ्रांसिस के साथ मिलकर प्रार्थना कर सकेंगे - "हे प्रभो, मुझे शान्ति का अपना एक यंत्र बना लो। जहाँ घृणा हो वहाँ मुझे प्रेम बोने दो, जहाँ प्रहार हो वहाँ क्षमा, जहाँ संशय हो वहाँ विश्वास, जहाँ निराशा हो वहाँ आशा, जहाँ अन्धकार हो वहाँ प्रकाश और जहाँ उदासी हो वहाँ प्रसन्नता।" विचार करें कि एक व्यक्ति अपने चरित्र को उदार बनाने की साधना में सिद्ध होकर अपने चारों ओर शान्ति, आनन्द, बल, प्रेम और विश्वास विकीर्ण कर रहा है। क्या यह समाज की सच्ची सेवा नहीं है? मानवता निःस्वार्थ प्रेम और पवित्रता चाहती है, शान्ति और सहानुभूति की अभिलाषा रखती है। इसकी पूर्ति उसे विज्ञान से नहीं होगी, न शिल्प-विज्ञान से, न राजनीति से और न सन्धि-समझौतों से; बल्कि पूर्ति तब होगी, जब उसे उदात्तचरित्र, महामना पुरुषों का संग प्राप्त होगा। समाज को विद्वानों और राजनीतिज्ञों की अपेक्षा ऐसे पवित्र स्त्री-पुरुषों की अधिक आवश्यकता है, जिनका चरित्र निर्मल हो और जिनकी कथनी तथा करनी में कोई अन्तर न हो। हमें आशा, उत्साह और धैर्य के साथ चरित्र को उदार बनाने की इस साधना में लग जाना चाहिए। इसमें सिद्धि केवल हमारे अपने लिए ही उपकारी नहीं होती, बल्कि वह हमारे आसपास के लोगों के लिए, मित्रों के लिए, पड़ोसियों के लिए और समाज के लिए वरदान स्वरूप होती है, क्योंकि उदार चरित्र एक ऐसा सर्वोच्च मूल्य है, जिसकी हम व्याख्या तो नहीं कर सकते, पर जिसका अनुभव हम सहज ही कर सकते हैं तथा जिसे हम प्रयत्न करने पर अपने अधिकार में ला सकते हैं। ऐसे व्यक्ति ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुरोधा होते हैं।

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १६६ –

सर्वं विष्णुमयं जगत्

एक महात्मा सर्वदा ज्ञानोन्माद की अवस्था में रहते थे। वे किसी से बोलते न थे और लोग भी उन्हें पागल समझते थे। एक दिन वे नगर में जाकर भिक्षा माँग लाये और एक कुत्ते पर बैठकर उसे खाने और साथ ही कुत्ते को भी खिलाने लगे। यह देखकर वहाँ बहुत-से लोग एकत्र हो गये और कुछ लोग तो पागल कहकर उनकी हँसी उड़ाने लगे। यह देखकर साधु ने कहा – हँसते क्यों हो? सुनो –

विष्णूपरि स्थितो विष्णुः
विष्णुः खादति विष्णवे।
कथं हससि रे विष्णो
सर्वं विष्णुमयं जगत्।।

– कुत्ते-रूपी विष्णु के ऊपर साधु-रूपी विष्णु बैठे हुए हैं, भिक्षा-रूपी विष्णु को साधु तथा कुत्ते-रूपी विष्णु खा रहे हैं, हे आप सभी लोगों-रूपी विष्णु, आप हँस क्यों रहे हैं, सारा विश्व ही तो विष्णुमय है?

– १६७ –

एकत्व देखनेवाले को दु:ख कैसा

दक्षिणेश्वर में दो साधु आए। दोनों बाप-बेटे थे। बेटे को ज्ञान हो चुका था, बाप को नहीं। दोनों श्रीरामकृष्ण के कमरे में बैठे हुए उनसे वार्तालाप कर रहे थे। इतने में चूहे के एक बिल में से एक छोटा गोखुरा साँप निकला और बेटे को काट लिया। यह देखकर उसका बाप बहुत घबड़ा गया और लोगों को बुलाने लगा। पर बेटा स्थिर बैठा रहा। बाप की घबराहट को देखकर वह हँस पड़ा। इस पर बाप नाराज हो उसे डाँटने लगा। इस पर वह बोला – "कौन साँप है और उसने किसे काटा है?" बेटे को एकत्व का बोध हो चुका था; ऐसी अवस्था में साँप और मनुष्य में भेद नहीं दिखाई देता।

– १६८ –

जाग्रत और स्वप्न अवस्था

एक लकड़हारा स्वप्न देख रहा था। किसी ने उसे कच्ची नींद से जगा दिया। इस पर उसने झुँझलाकर कहा – "तूने क्यों मुझे कच्ची नींद में जगाया? मैं राजा और सात लड़कों का बाप हो गया था। मेरे बच्चे लिख-पढ़ रहे थे, अस्त्र-शस्त्र चलाना सीख रहे थे। मैं सिंहासन पर बैठा राज कर रहा था। मेरा सब्जबाग तूने क्यों उजाड़ डाला?"

वह आदमी बोला – "अरे, वह तो स्वप्न था, उसमें क्या रखा है?" लकड़हारे ने कहा – "अरे, बात तेरी समझ में नहीं आयी। मेरा लकड़हारा होना जितना सच है, स्वप्न में राजा होना भी उतना ही सच है।" वेदान्त के मतानुसार जाग्रत अवस्था भी स्वप्न के समान ही मिथ्या है।

– १६९ –

सर्वोच्च ज्ञानी बालकवत्

महाराज जनक की सभा में एक संन्यासिनी आई। उसे देखकर राजा ने सिर नीचा कर लिया और आँखें झुका लीं। यह देखकर संन्यासिनी बोलीं – "हे जनक ! तुम्हें स्त्रियों को देखकर अब भी इतना भय लगता है !"

पूर्णज्ञान हो जाने पर व्यक्ति का स्वभाव पाँच साल के बच्चे जैसा हो जाता है – तब उसके मन में – 'यह स्त्री है और यह पुरुष है' – ऐसी भेदबुद्धि नहीं रह जाती।

– १७० –

शरीर और आत्मा

एक सती साध्वी भक्त स्त्री संसार में रहकर पति-पुत्रों की सेवा तथा ईश्वर-चिन्तन किया करती थी। एक दिन उसके पति का किसी रोग से देहान्त हो गया। उसकी अन्तिम क्रिया आदि सम्पन्न हो जाने के बाद उस स्त्री ने अपने हाथों की काँच की चूड़ियाँ फोड़ डालीं और उसकी जगह सोने के कड़े पहन लिए। उसके इस विचित्र कार्य को देख लोगों ने इसका कारण पूछा। वह बोली – "इतने दिन मेरे पति की देह काँच की चूड़ियों की भाँति क्षणभंगुर थी। उनकी वह अनित्य देह चली गई। अब वे नित्य अखण्डस्वरूप हो गए हैं। अत: मैंने काँच की चूड़ियाँ तोड़कर पक्के कड़े पहन लिए।"

– १७१ –

साधुसंग से ब्रह्मज्ञान

पुराण में लिखा है – जगज्जननी भगवती जब गिरिराज हिमालय की कन्या पार्वती के रूप में अवतीर्ण हुई थीं, उस समय उन्होंने हिमालय को अपने शक्ति-स्वरूप का विभिन्न रूपों में दर्शन कराया। सभी रूपों के दर्शन करने के बाद

गिरिराज ने भगवती से कहा – "बेटी, वेदों में जिस ब्रह्म के बारे में कहा है, एक बार मुझे उस ब्रह्म के दर्शन कराओ।"

इस पर पावती बोलीं – "पिताजी, यदि आप ब्रह्मदर्शन करना चाहते हों, तो संसार छोड़कर सर्वत्यागी साधुओं का संग कीजिये!" पर हिमालय किसी भी तरह संसार नहीं छोड़ते थे। तब पार्वतीजी ने एक बार अपना ब्रह्मस्वरूप दिखाया। देखते ही गिरिराज एकदम मूर्छित हो गए।

ज्ञान-विचार का मार्ग कठिन है। विषयबुद्धि का लेशमात्र रहते भी यह ब्रह्मज्ञान नहीं होता।

– १७२ –

देह और आत्मा अलग-अलग हैं

जब तक देह है, तब तक उसकी देखभाल करनी पड़ती है। पर देख रहा हूँ, आत्मा देह से बिल्कुल अलग चीज है। काम-कांचन का मोह यदि बिल्कुल दूर हो जाय, तो ठीक-ठीक समझ में आ जाता है कि देह अलग है और आत्मा अलग। नारियल के भीतर का सारा पानी सूख जाने पर खोपड़ा और गोला अलग-अलग हो जाते हैं, तब नारियल को हिलाने से ही पता चल जाता है कि भीतर गोला खोपड़े से छूटकर खड़खड़ा रहा है – जैसे म्यान और तलवार, म्यान अलग है और तलवार अलग। इसीलिए देह की बीमारी के लिए जगदम्बा से अधिक कुछ कहा भी नहीं जाता।

बहुत दिनों पहले, एक बार मुझे भयंकर बीमारी हुई थी। मैं काली-मन्दिर में बैठा हुआ था। माँ से प्रार्थना करने की इच्छा हुई, पर ठीक से कह नहीं सका। बोला – "माँ, हृदय कहता है कि मैं तुमसे अपनी बीमारी की बात कहूँ।" पर और कुछ मैं नहीं कह सका। कहते-कहते ही सोसायटी के म्यूजियम की याद आ गयी। वहाँ का तारों से बँधा हुआ मनुष्य का अस्थिपंजर आँखों के सामने आ गया। मैं बोला – "माँ, मैं केवल यही चाहता हूँ कि तुम्हारा नाम-गुण गाता रहूँ। इसके लिए उस अजायबघर के अस्थिपंजर की तरह इसे भी तारों से कसे भर रखना।"

– १७३ –

परमहंस का स्वभाव

परमहंस का स्वभाव बिलकुल पाँच साल के बच्चे जैसा होता है। वह सब चेतन देखता है। श्रीरामकृष्ण बताते हैं –

जब मैं कामारपुकुर में रहता था, तो रामलाल का भाई शिवराम ४-५ साल का था। वह तालाब के किनारे पतिंगे पकड़ने जा रहा था। एक पत्ता हिल रहा था। कहीं पत्ते की खड़खड़ाहट से शिकार भाग न जाय, इसलिये वह पत्ते से कहने लगा – "अरे चुप! मैं पतिंगा पकडूँगा।" पानी बरस रहा था और आँधी भी चल रही थी। रह-रहकर बिजली चमकती थी, फिर भी द्वार खोलकर वह बाहर जाना चाहता था। डाँटने पर फिर बाहर नहीं गया, पर झाँक-झाँककर देखने लगा। बिजली चमक रही थी, तो बोला – "चाचा, फिर दियासलाई घिस रहा है!" परमहंस भी ऐसे ही बालक के समान होते हैं – उनके लिए न कोई अपना है, न कोई पराया। सांसारिक सम्बन्ध की कोई परवाह नहीं करते।

– १७४ –

शंकराचार्य और चाण्डाल

शंकराचार्य थे तो ब्रह्मज्ञानी, पर पहले उनमें भी भेदबुद्धि थी। वैसा विश्वास न था। काशी में एक चाण्डाल कसाईखाने से माँस की टोकरी लेकर आ रहा था। शंकराचार्य गंगाजी में स्नान करके लौट रहे थे कि चाण्डाल से स्पर्श हो गया। वे नाराज होकर बोल उठे – "अरे! तूने मुझे छू लिया!"

चाण्डाल ने कहा – "महाराज, न आपने मुझे छूआ है और न मैंने आपको! विचार कीजिये, क्या आप देह हैं, मन हैं या बुद्धि हैं? आप क्या हैं? विचार कीजिये। शुद्ध आत्मा – न वह शरीर है, न पंचभूत है, और न चौबीस तत्त्व। शुद्ध आत्मा निर्लिप्त है – सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में से किसी में लिप्त नहीं है। आप वही शुद्ध आत्मा हैं।"

सुनकर शंकराचार्य लज्जित हो गये और उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ। जैसे वायु में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों रहते हैं, परन्तु वायु उनसे निर्लिप्त रहती है, वैसे ही ब्रह्म भी निर्लिप्त हैं। उनमें तीनों गुण हैं; तो भी वे उनसे निर्लिप्त हैं।

– १७५ –

लोकशिक्षा का अधिकार

श्रीरामकृष्ण के जन्मस्थान कामारपुकुर गाँव में हालदार-पुकुर नाम का एक तालाब था। कुछ लोग प्रतिदिन उसके किनारे जाकर शौच किया करते थे। सुबह के समय जो लोग वहाँ स्नान आदि करने जाते, वे उसे देखकर इस पर खूब चिल्लाते और कोसते। परन्तु इससे कोई काम नहीं होता था। अगले दिन फिर वही हालत होती थी। शौच करना बन्द नहीं होता था। और कोई चारा न देख लोगों ने कम्पनी में शिकायत की। कम्पनीवालों ने एक चपरासी भेजा। चपरासी आकर एक नोटिस चिपका गया – 'यहाँ शौच करने की सख्त मनाही है; न माननेवाले दंडित किये जायेंगे।' इसके बाद फिर वहाँ कोई शौच के लिए नहीं जाता था।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि यदि ईश्वर का आदेश पाए बिना ही उपदेश दिया जाय, तो लोग उस ओर ध्यान नहीं देते, उस उपदेश में कोई शक्ति नहीं रहती। पहले साधना करके या जैसे भी हो, ईश्वर को प्राप्त करना चाहिए। फिर उनकी आज्ञा मिले, तो फिर धर्म-प्रचार किया जा सकता है। ❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (९)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषु उदासीनता च ।।९।।

अन्वयवार्थ – **तस्मिन्** – उसमें **अनन्यता** – अन्य सभी चीजों से विमुखता (या एकाग्रता) **च** और **तद्विरोधिषु** – उसकी विरोधी वस्तुओं के प्रति **उदासीनता** – उदासीनता।

अर्थ – उस (भक्ति) में भक्ति के सिवा अन्य सभी चीजों के प्रति विमुखता (अर्थात् एकाग्रता) और उसकी विरोधी वस्तुओं के प्रति उदासीनता होती है।

पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति निरोध के स्वरूप की होती है। किस चीज से निरोध? यहाँ एक अन्य निहितार्थ निकाला जा रहा है। यह ईश्वर के प्रति अनन्यता या एकाग्रता है। यह पूर्ण ईश्वर-तन्मयता है। अर्थात् इसमें ईश्वर के सिवा मन में और कुछ भी न रहता या ईश्वर को छोड़ अन्य सभी वस्तुओं का अभाव हो जाता है। यह इसका प्रथमार्ध है। द्वितीयार्ध यह है कि जो कुछ विरोधी चीजें हैं, बाधास्वरूप जो अरुचि आदि हैं, या जो ईश्वर के प्रति भक्ति के प्रवाह में अवरोध है, ऐसी समस्त बाधाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। सुखप्रद विषयों के प्रति प्रवाहित होना ही हमारे मन की प्रवृत्ति है। सुखप्रद विषयों के प्रति यह आसक्ति मन के ईश्वर की ओर प्रवाह की विरोधी है। इसलिये ईश्वर के प्रति मन के प्रवाह में बाधा डालनेवाली सभी चीजों के प्रति उदासीनता होनी चाहिये।

श्रीरामकृष्ण ने वैराग्य को इस प्रकार समझाया है। ऊपरी तौर पर वैराग्य का अर्थ है सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनासक्ति का भाव, परन्तु यह वैराग्य शब्द का सम्पूर्ण अर्थ नहीं है। इन्द्रियों के विषयों के प्रति अनासक्ति के साथ ही ईश्वर के प्रति अनुराग या आसक्ति भी होनी चाहिये। हमारी अनासक्ति के साथ-साथ यदि ईश्वरानुराग का भाव नहीं रहता, तो वह अनासक्ति सही प्रकार की नहीं है। कोई व्यक्ति जीवन में निराश और अवसादग्रस्त हो सकता है, जिससे सुखप्रद विषयों से उसकी अनासक्ति या अरुचि हो सकती है। यदि मन ईश्वर में निमग्न न हो, तो वह सच्चा त्याग नहीं है। मान लीजिये मन ईश्वर की ओर आकृष्ट हुआ है, तथापि इन्द्रिय-विषयों के प्रति उदासीनता नहीं है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उस हद तक मन का ईश्वर की ओर प्रवाह बाधित होगा।

अत: इन दोनों को एक साथ लेना होगा। एक सकारात्मक भाव है, तो दूसरा नकारात्मक। सर्वप्रथम सकारात्मक भाव इस अर्थ में कि हमारा मन एकाग्र भाव से ईश्वर की ओर प्रवाहित होना चाहिये और द्वितीयत: मन को ईश्वर से दूर ले जानेवाली वस्तुओं के प्रति पूर्ण उदासीनता होनी चाहिये। इसी को त्याग कहा जाता है और इसी का अर्थ है निरोध। निरोध बाह्य तौर पर एक नकारात्मक शब्द है, पर इसे अपने परिपूरक सकारात्मक भाव – ईश्वरानुराग से सम्बद्ध होना चाहिये। तो इसका मूलभाव है – ईश्वर के प्रति अनन्यता (एकाग्रता) और इसकी विरोधी वस्तुओं के प्रति अनासक्ति। अधिकांश पुस्तकों में वैराग्य का अर्थ त्याग बताया गया है। त्याग का अर्थ है इन्द्रिय-सुखों से उदासीनता या उनका त्याग। परन्तु श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रिय-सुखों के त्याग मात्र से सच्चा त्याग-भाव नहीं आता। सच्चे त्याग में हमेशा सकारात्मक तत्त्व सम्बद्ध रहेगा अर्थात् मन केवल ईश्वर की ओर प्रवाहित होगा।

ये दोनों साथ-साथ रहने चाहिये और इसके बिना दोनों में से कोई भी सच्चा नहीं होगा। न त्याग के बिना भक्ति सच्ची होगी और न भक्ति के बिना त्याग सच्चा होगा।

ईश्वर की अनुभूति के लिये एकाग्रता ही एकमात्र आवश्यक योग्यता है। गीता में सत्य ही कहा गया है, "जो निष्ठापूर्वक मेरा चिन्तन करता है, मेरी पूजा करता है, किसी अन्य वस्तु में मन को न लगाकर अनन्य भाव से मेरा ही ध्यान करता है, मैं उसके लिये आवश्यक चीजें प्रदान करूँगा और उसे प्राप्त चीजों की रक्षा भी करूँगा।"[१] इसका अर्थ यह है कि ईश्वर उसकी देखभाल करेंगे। पर क्या कोई इसलिये भक्त होता है

१. गीता, १२/८ तथा ९/२२

कि ईश्वर उसकी देखभाल करें? नहीं, ऐसा नहीं है। सच्चा भक्त ईश्वर से कोई अपेक्षा नहीं रखता, यहाँ तक कि ईश्वर द्वारा देखभाल की भी अपेक्षा नहीं करता। तो यह किस तरह की भक्ति है? यह भक्ति देने में है, लेने में नहीं। भक्त ईश्वर को अपना प्रेम देता है और कोई प्रतिदान नहीं चाहता। स्वामी विवेकानन्द भक्तियोग पर अपने व्याख्यान में कहते हैं – ''यदि किसी प्रतिदान की अपेक्षा है, तो वह व्यापार मात्र है।'' भक्ति में कोई व्यापारिक मोलभाव नहीं होता। यह व्यापार का विषय नहीं है, किसी वस्तु के लिये किसी वस्तु का विनिमय नहीं है। भक्त ईश्वर को अपना प्रेम देता है और इसके लिये किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता। यह एकतरफा प्रेम है; बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा के केवल देना। ऐसी भक्ति ही सर्वोच्च प्रकार की होती है।

यह पूर्ण नि:स्वार्थता ही भक्ति का प्रमाण है। अपनी भक्ति के बदले में भक्त ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहता। ईश्वर से कुछ भी आशा न रखना शायद बहुत कठिन हो सकता है, किन्तु जब तक किसी ने स्वयं को उस स्तर तक उठा न लिया हो, तब तक वह सच्चा भक्त नहीं कहला सकता। जब तक ईश्वर से अपेक्षा है, तब तक कुछ खोट है, उस सर्वोच्च स्थिति से च्युति है। इसे बाद में यह बात स्पष्ट रूप से बतायी जायेगी।

इस प्रकार कई सूत्रों द्वारा भक्ति का वर्णन किया गया। प्रथमत: तो भक्ति में कोई कामना नहीं रहती, क्योंकि सभी इच्छाओं का निरोध ही इसका स्वभाव होता है। फिर निहितार्थ के रूप में विरोध का अर्थ है लोकमत या धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सभी क्रियाकलापों का त्याग। शास्त्रों के निर्देशों का अर्थ है, वे जो कुछ वांछित वस्तुओं की प्राप्ति कराने के लिये होते हैं। ऐसी सभी चीजों का त्याग निरोध है।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ।।१०।।

अन्यवयार्थ – **अन्य** – दूसरे, **आश्रयाणाम्** – आश्रयों (भक्ति व ईश्वर के सिवा अन्य सभी आश्रयों) को **त्यागः** – छोड़ना या त्याग करना, **अनन्यता** – एकनिष्ठता है।

अर्थ – (भक्ति या ईश्वर को छोड़कर) अन्य सभी प्रकार के आश्रयों का त्याग ही अनन्यता या एकनिष्ठता है।

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं
तद्विरोधिषु उदासीनता ।।११।।

अन्यवयार्थ – **लोकवेदेषु** – लोकमत और वैदिक निर्देशों (के विषय) में **तदनुकूल** – उसके अनुरूप, **आचरणं** – आचरण, (और) **तद्विरोधिषु** – उसके विरोधी विचारों के प्रति, **उदासीनता** – उपेक्षा या तटस्थता का भाव।

अर्थ – भक्त का आचरण जनमत और वैदिक निर्देशों के अनुकूल और उसके विरोधी विचारों के प्रति उदासीनता के भाव से युक्त होना चाहिये।

भवतु निश्चय-दाढर्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ।।१२।।

अन्यवयार्थ – **निश्चय-दाढर्यात्** – विश्वास में अडिगता, **ऊर्ध्वं** – जब तक नहीं, **भवतु** – हो; (तब तक), **शास्त्र-रक्षणम्** – शास्त्रों के अनुसार चलना चाहिये।

अर्थ – जब तक अटल विश्वास न हो जाय, तब तक शास्त्रानुकूल आचरण होना चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ।।१३।।

अन्यवयार्थ – **अन्यथा** – नहीं तो, **पातित्य-आशंकया** – (आदर्श से) पतन का भय (बना रहता है)।

अर्थ – अन्यथा आदर्श से पतन का भय बना रहता है।

चर्चा के लिये उपर्युक्त चारों सूत्र यहाँ एक साथ लिये गये हैं। अनन्यता का अर्थ इस सूत्र में फिर समझाया गया है। अन्य सभी वस्तुओं तथा आकांक्षाओं का त्याग, ईश्वर के सिवा अन्य सभी आश्रयों का त्याग अनन्यता कहलाती है। वेदों के विधि-निषेधों का त्याग और जनमत के त्याग का भी वर्णन किया जा चुका है। परन्तु इन सभी का पूरी तौर से त्याग नहीं करना है। शास्त्रों के जो निर्देश भक्ति के विकास में सहायक हैं, उनका त्याग नहीं करना है। जो चीजें भक्ति की वृद्धि के लिये हों, वे चाहे शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट हों या लोकमत से ज्ञात हुए हों, उनका त्याग नहीं करना है। किन्तु यदि वे भक्ति की वृद्धि में बाधक हों, तो स्वीकार्य नहीं हैं। साथ ही हमें उनके प्रति उदासीन रहना होगा। उनके प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अत: जब हम कहते हैं कि भक्तिमार्गी व्यक्ति को वेदों का अनुसरण नहीं करना चाहिये, तो उसका अर्थ यह नहीं है कि उसे हर समय वेदों के विरुद्ध चलना है। नहीं, उसे ऐसा नहीं करना है। वेदों के जो निर्देश भक्ति की वृद्धि में सहायक हों, उनका पालन करना होगा, भले वे वेदों या लोकमत द्वारा निर्दिष्ट हों। परन्तु यदि वे भक्ति की वृद्धि में बाधक हों, तो हमें उन शिक्षाओं के प्रति उदासीन रहना चाहिये अर्थात् हमें उनका अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह है कि वेदों में अनेक बातें कही गई हैं – स्वर्ग कैसे जाएँ, धन कैसे अर्जित करें, सन्तान कैसे प्राप्त करें, विभिन्न सुख-सुविधायें कैसे प्राप्त हों और यहाँ तक कि वर्षा के देवता (इन्द्र, वरुण) को सन्तुष्ट करके कैसे वर्षा प्राप्त करें, आदि आदि। भक्त को ऐसी चीजों में रुचि नहीं होती। बहुत-सी ऐसी चीजें हैं, जिनमें भक्त कोई रुचि नहीं लेगा, कोई ध्यान नहीं रखेगा। वे भक्ति की वृद्धि के लिये आवश्यक नहीं हैं, अत: उनका पालन नहीं करना है। परन्तु जो निर्देश भक्ति की वृद्धि में सहायक हैं, चाहे वे शास्त्रीय विधि-निषेध हों, या लोकमत हों, उनका अनुसरण करना है; उनका त्याग नहीं करना है।

यह एक सशर्त निर्देश है। यहाँ वैदिक कर्मकाण्डों का अनुष्ठान न करने और लोकमत के अनुरूप न होने को इस शर्त के साथ वर्णित किया गया है कि यदि वे भक्ति की वृद्धि में सहायक हों, तो उनका पालन किया जाय। आगे एक और सावधानी बताई गई है। जब तक भक्ति में प्रतिष्ठित न हो जाय, तब तक शास्त्रीय विधि-निषेधों का पालन करते रहना चाहिये। भक्ति में प्रतिष्ठित होने तक व्यक्ति को शास्त्र-निर्देशों का पालन करना चाहिये, क्योंकि वे निर्देश उसमें भक्ति उत्पन्न करने में सहायक होंगे। परन्तु यदि उसने पहले से ही भक्ति प्राप्त कर ली है, तो शास्त्रीय निर्देश व्यर्थ हैं। उनका प्रयोजन पूरा हो चुका है और आगे उनके पालन करने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

शास्त्रीय निर्देश चाहे प्रत्यक्ष तौर पर किसी भी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हों या न हों, उनका दृढ़तापूर्वक पालन ही उत्तम है, क्योंकि वे भक्त को अपवित्रता से बचाने में सहायक हो सकते हैं। अन्यथा, उनका पालन न करके, व्यक्ति पाप में लिप्त या दूषित हो सकता है। शास्त्रीय निर्देशों का पालन न करके व्यक्ति अपना अध:पतन कर लेता है। ऐसे अध:पतन से बचने के लिये व्यक्ति को उनका पालन करना चाहिये। अन्यथा व्यक्ति द्वारा पाप-कर्म में डूबने का खतरा रहता है।

अत: व्यक्ति को शास्त्रीय निर्देशों का वहीं तक पालन करना चाहिये, जहाँ तक वे सहायक हों। व्यक्ति को वेदों की शिक्षा को हल्के तौर पर नहीं ग्रहण करना चाहिये। किसी दण्ड की व्यवस्था न होने के कारण व्यक्ति उनका त्याग नहीं कर सकता। उन्हें उचित सम्मान दिया जाना चाहिये। शास्त्रीय निर्देशों के बारे में यही उचित है। लोकमत के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। भक्ति में प्रतिष्ठित होने तक लोकमत का सम्मान किया जाना चाहिये।

गीता[२] में कहा गया है कि कोई व्यक्ति पल भर के लिये भी बिना कोई कर्म किये नहीं रह सकता। अत: कुछ क्रिया-कलापों को जारी रखना होगा। पर कुछ ऐसे क्रिया-कलापों को चुनना होगा, जो व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक जीवन में सहायक हैं और इसमें हानिकर कुछ अन्य क्रिया-कलापों को त्यागना होगा। हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय केवल इसी दृष्टिकोण से करना होगा।

२. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्। (३/५)

❖ (क्रमशः) ❖

ईश्वर के असंख्य नाम और अनन्त रूप हैं, जिनके माध्यम से उनके पास पहुँचा जा सकता है। जिस किसी भी नाम और रूप के द्वारा उनकी भक्ति-उपासना करोगे, उसी के द्वारा उन्हें पा लोगे। — *श्रीरामकृष्ण*

छबिधाम राम !

रामराज 'हिमकर'

साँझ प्रात आते लिये सुचारुता नवीन,
अम्बर तुम्हारे अनुराग रँगा जा रहा।
टेरता तुम्हारे ही स्वरों में बाँसुरी-समीर,
सागर तुम्हारी महिमा के गीत गा रहा।
झूलता तुम्हारी करुणा की वायु में सलिल,
जीवन के फूल नित्य वारिद लूटा रहा।
हँस-हँस पड़ती तुम्हारा ले प्रकाश हास,
रस से तुम्हारे जगती में रस छा रहा।।

जग में लूटाने ज्योति जीवन की प्राणमयी,
रवि-शशि आते मुस्काते निशि-याम हैं !
इंगित तुम्हारा पा बनी है, व्यस्त सिंचन में,
धार सरिता की बही जाती अविराम है !
छायी है हरीतिमा तुम्हीं से वन-वाटिका में,
रस से तुम्हारे कुसुमों के भरे जाम हैं !
छाँह पा तुम्हारे नयनों की छविधाम राम,
संसृति हमारी बनी नयनाभिराम है !!

ओ पथिक !

समय-सिन्धु में उठ रहीं तुंग लहरें,
उन्हें अनसुनी कर चले जा रहे हो !!

चली है लहर शब्द सम्भार लेकर,
बुलाती तुम्हें मर्म-सन्देश देकर,
सभी कुछ क्षणिक है, सभी है विनश्वर,
मगर कामना-पट बुने जा रहे हो !!

उधर शब्दमय व्योम भी तो मुखर है,
जहाँ पूर्वजों के छिपे ज्ञान स्वर हैं,
विकल शोरगुल से हुये कान फिर भी,
बिगुल बेसुरा ही सुने जा रहे हो !!

सिकन्दर मिटे, मिट गये शाह अकबर,
सुरा-सुन्दरी का न जमघट न लश्कर,
हुये ग्रास भू के, मगर भूमिवालों,
शलभ दीप के बन भुने जा रहे हो !!

घिरी भवनिशा, चाँद निकला नहीं है,
अहं का तिमिर-तोम पिघला नहीं है,
भटकते रहे, लक्ष्य पथ का न जाना,
दिशाहीन निज को छले जा रहे हो !!

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

६३. जाति के अभिमान में डूबे बहुत कुलीन

महाभारत का युद्ध समाप्त होने के बाद श्रीकृष्ण द्वारका जा रहे थे। मार्ग में उत्तंक मुनि का आश्रम देख वे रुक गये। मुनि ने उनका यथोचित सत्कार किया। जब श्रीकृष्ण वापस लौटने लगे, तो उन्होंने हाथ जोड़कर कहा – "भगवन्, इस मरुभूमि में जल का कोई स्रोत न होने से ग्रीष्म-काल में मुझे बड़ी तकलीफ होती है। यदि आप जल की कोई व्यवस्था कर दें, तो बड़ी कृपा होगी।" श्रीकृष्ण बोले – "ठीक है, मैं अमृत-जल की व्यवस्था करूँगा।" वे इन्द्र के पास गये और उन्होंने इन्द्र से उत्तंक मुनि को अमृत देने की प्रार्थना की। देवराज ने कहा – "देव, दो कारणों से यह सम्भव नहीं है। एक तो उत्तंक मुनि मानव हैं और दूसरे वे अमृत-प्राप्ति के पात्र नहीं हैं।" श्रीकृष्ण बोले – "नहीं, मैंने मुनि को वचन दिया है, अत: यदि आप अमृत की व्यवस्था कर सकें, तो उचित होगा।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने इन्द्र से पुन: प्रार्थना की। देवराज ने कहा – "आप जब आग्रह कर रहे हैं, तो मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा।"

एक दिन उत्तंक मुनि को बेहद प्यास लगी। जब उनका गला सूखने लगा, तो उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया। तभी हाथों में घड़ा लिये हुये एक चाण्डाल अपने कुत्ते के साथ वहाँ आ पहुँचा और बोला – "मुनिवर, लगता है आप तृष्णा से त्रस्त हैं। मैं यहाँ से गुजर रहा था, तो आपको तृषित देखकर आपको जल देने आया हूँ। लीजिये, इस घड़े में अमृत तुल्य जल है, उसे पीकर अपनी प्यास बुझाइये।"

मुनि को श्रीकृष्ण पर बड़ा गुस्सा आया कि उन्होंने जल भेजा भी, तो एक चाण्डाल के हाथों भेजा – यह तो मेरे साथ कपट हुआ। और उन्होंने जल लेने से इनकार कर दिया। चाण्डाल के बारम्बार आग्रह करने पर उनके क्रोध की सीमा न रही। वे शाप देने को उद्यत हो रहे थे कि चाण्डाल लुप्त हो गया और उसकी जगह श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उन्होंने कहा – "मुनिवर, शान्त होइये। मैंने आपके साथ कोई छल-कपट नहीं किया, बल्कि स्वयं इन्द्रदेव ही चाण्डाल के वेश में अमृत लेकर उपस्थित हुये थे, किन्तु आपने उन्हें अस्पृश्य माना और इस तरह आप अमृत से वंचित रह गये। आप स्वयं को ब्राह्मण कहते हैं, परन्तु ब्राह्मण तो वह है, जो ब्रह्म को पहचान कर निर्विकार रहकर विवेकपूर्ण कर्म करता है। ब्राह्मण को जाति-अभिमान से परे रहकर सबके साथ समान भाव से आचरण करना चाहिये। उत्तंक मुनि को पश्चात्ताप हुआ। उनकी आँखों से अश्रुधारा निकल पड़ी। तब श्रीकृष्ण ने कहा – "मुनिवर, अब से जब भी आपको प्यास लगेगी, मेघ आकर वर्षा करके आपकी तृष्णा का शमन करेंगे। यह जल देनेवाले मेघ उत्तंक मेघ के नाम से जाने जायेंगे।"

६४. शीतल हृदय सदा सुखदायी

इटली के सन्त फ्रांसिस बड़े ही शान्त स्वभाव के थे। उन्हें कभी भी क्रोधित न हुआ देख लोग सोचा करते कि यह कैसा व्यक्ति है कि इसे कभी भी गुस्सा नहीं आता। उन्होंने निश्चय कि वे इसे क्रोधित करके ही रहेंगे। एक दिन उन्होंने सन्त के प्रति बार-बार अपशब्द कहे, उन पर पत्थर फेंके, पर वे चुपचाप सब सहते रहे। आखिर उनमें से एक व्यक्ति ने कहा – "क्षमा करें, हमने आपको कभी भी क्रोधित होते हुए नहीं देखा, इसलिये हम आपको गुस्सा दिलाने चाहते थे, पर अब मालूम हुआ कि आप सचमुच पहुँचे हुए सन्त हैं, इसीलिये आपने मौन रहकर सब कुछ सहन किया। आपके साथ बुरा बर्ताव करने पर भी आप शान्त कैसे रह लेते हैं? आपने यह शक्ति कहाँ से प्राप्त की?" सन्त ने उत्तर दिया – "मेरे मन के विरुद्ध कोई बात होने पर पहले मैं ऊपर की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ कि एक-न-दिन मुझे यहाँ ही जाना है, इसलिये लोग मेरे साथ कैसा भी बर्ताव करें, मैं उसका प्रतिकार क्यों करूँ? अगर मैं भी उनके साथ वैसा ही पेश आऊँगा, तो मेरा मन विचलित हो जायेगा। और ऊपर जाने के लिये मन का निर्मल रहना, शीतल रहना परम आवश्यक है।" उन्होंने आगे कहा – "जब मैं नीचे की ओर देखता हूँ, तो आसपास के लोगों को घोर कष्ट भोगते हुए देखता हूँ और सोचता हूँ कि मैं तो इनसे अच्छी स्थिति में हूँ। तब मेरा मन शान्त हो जाता है। अन्त:करण के शीतल रहने से राग-द्वेष, ईर्ष्या-क्रोध आदि विकार पनप नहीं पाते। किसी के द्वारा अपशब्द कहने पर यदि हम भी उसका अनुकरण करने लगें, तो मन अशान्त हो जायेगा और चित्त की प्रसन्नता जाती रहेगी। इससे हमारे भीतर जो क्रोध का बीच होता है, उसे बाहर प्रकट होने का मार्ग मिल जायेगा और तब हम दूसरों की भर्त्सना करने लगेंगे। यही हमारे पतन का कारण हो सकता है, इस कारण हमें सर्वदा शान्त रहने का प्रयास करते रहना चाहिये।" ❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (३६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

मायावती में साधुसंग

मायावती में जाकर पन्द्रह-बीस दिन मलहम लगाते ही Eczema (एग्जिमा) ठीक हो गया। उस समय वहाँ पर पूज्य निर्मल महाराज (स्वामी माधवानन्द), शिबूदा, विविदिषानन्दजी, पवित्रानन्दजी, भरत महाराज (अभयानन्दजी), चिदम्बरनाथजी तथा अशोकानन्दजी आदि निवास करते थे और स्वामी विवेकानन्द की योजना के अनुसार, शिबूदा के प्रयास से वहाँ सप्ताह में दो दिन व्याख्यान-कक्षा आरम्भ की गयी थी। प्रारम्भ में किसी भी धार्मिक या सामाजिक विषय पर तात्कालिक वक्तृता होती, पर बाद में विविदिषानन्दजी के आग्रह पर उसे बदल दिया गया और पहले से चुने हुए विषय पर ही भाषण होते। सबको बोलना पड़ता! पूज्य निर्मल महाराज और शिबूदा के दौरे पर चले जाने के बाद मैं उस मण्डली का सभापति हुआ। अशोकानन्दजी सबसे अच्छा बोलते। भाषा, तर्क तथा प्रसंग की प्रस्तुति में – हर दृष्टि से वे ही सर्वश्रेष्ठ ठहरते। विविदिषानन्द किसी तरह थोड़ा-सा बोलकर ही थक जाते, पर उनके विचार बड़े सुलझे हुए होते। इसके बाद अशोकानन्द स्वामी का पवित्रानन्द स्वामी के साथ तर्क शुरू हो जाता। वे पवित्रानन्दजी को पराजित कर डालते। मैं बीच का मार्ग निकाल कर उन्हें सांत्वना देने की चेष्टा करता।

वहाँ करीब डेढ़ महीने बड़ी अच्छी तरह बीते। फिर वहाँ के अस्पताल के स्वामी कमलानन्द और पोस्ट-मास्टर शाहजी के साथ श्यामलाताल-आश्रम में गया और एक-दो सप्ताह रहकर लखनऊ होते हुए काशी लौटा। लखनऊ स्टेशन पर आते समय कमलानन्द के इक्के का चक्का खुल गया और इक्का उलट जाने से वे गाड़ी के नीचे आ गये। बेहोश अवस्था में बड़े कष्ट से उन्हें स्टेशन ले गया और प्रतीक्षालय में लिटाया, फिर सूचना भेजकर दवा आदि मँगाकर खिलाने तथा मालिश करने पर एक घण्टे बाद उन्हें होश आया। पैर में और पसली में चोट आई थी, हड्डी आदि नहीं टूटी थी।

बेलूड़ मठ का महा-सम्मेलन

इस अवस्था में हम लोग वाराणसी पहुँचे। वहीं बेलूड़ मठ से पूज्य सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) का पत्र मिला – वहाँ Convention – १९२६ (महा-सम्मेलन) होगा; तैयारी चल रही है; मठ में पहुँचना होगा। किसी प्रकार किराये की व्यवस्था हुई। कार्यारम्भ के दो सप्ताह पूर्व मठ में पहुँचा। मठ में बहुत लोग थे, स्थान का अभाव था। शुद्धानन्दजी से मिलने उद्बोधन कार्यालय गया। वहाँ ठाकुर को प्रणाम करके सीढ़ियाँ उतर रहा था। अब पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) को प्रणाम करने जाना था। देखा कि वे स्वामी भूमानन्द, शंकरानन्दजी तथा ब्रह्मचारी गणेन्द्र के साथ दफ्तर में बैठे किसी विषय पर चर्चा कर रहे हैं।

मुझे देखते ही वे बोले – "अरे, जपानन्द, कब आये?" मैंने जल्दी से जाकर उन्हें प्रणाम किया। उनके पास ही एक कोने में आलमारी की आड़ में पूज्य तुलसी महाराज बैठे थे, मैंने देखा नहीं। बाद में देखने पर उन्हें भी प्रणाम किया। बाकी सबको यथायोग्य अभिवादन कर चुका था। ...

पाँच-सात मिनट बाद फिर सुधीर महाराज के पास गया। मठ में स्थानाभाव है, अब क्या हो, क्योंकि कलकत्ते से नित्य आना-जाना मेरे लिए असम्भव था। जाकर देखा बड़े शान्त भाव से उन्हीं लोगों के साथ सम्मेलन (Convention) के बारे में चर्चा कर रहे हैं। धन्य साधु ! ऐसे साधु ही सब कुछ भूल सकते हैं, मानो कुछ हुआ ही नहीं। ऐसा आचरण देखकर मुग्ध हुआ। उनके प्रति श्रद्धा सैकड़ों गुनी बढ़ गयी। उन्होंने मुझे बलराम मन्दिर में रहने और किरण दत्त महाशय के यहाँ भिक्षा पाने की व्यवस्था कर दी और कहा – जब मठ में व्यवस्था हो जायगी, तब वहाँ जाना। किरण बाबू का 'अनुग्रह का भाव' इतना अधिक दीख पड़ा कि मैं संकोच का अनुभव करने लगा। दो-एक दिन तो मुरमुरे ही खाकर रहा और मठ में व्यवस्था हो गई है, सुनकर वहीं चला गया।

साधु-सम्मेलन में सर्वप्रथम सभी आश्रमों तथा मिशन के केन्द्रों की रिपोर्ट पढ़ी जायेगी। रिपोर्टों को पढ़कर, थोड़ा काट-छाँटकर सभा में पढ़ने के लायक बनाने का भार योगेन महाराज और मुझ पर भार पड़ा। अंग्रेजी रिपोर्टें उन्होंने देखीं और बँगला की रिपोर्टें मेरे हाथ में आयीं। बहुत अच्छी रिपोर्ट थी। पूर्व बंग में एक स्थान पर दो पक्के शौचालय बनवाये गये थे, उसकी भी रिपोर्ट थी। उधर के गाँवों के लिए यह एक नई चीज थी और प्राय: दृष्टिगोचर नहीं होती। गया की एक छोटी-सी टूटी-फूटी गुफा में शुरू होगा – विवेकानन्द विश्वविद्यालय। उसकी रिपोर्ट गुहा से तपस्वी महाराज ने

स्वयं भेजी थी और लिखा था कि इसे सभा में अवश्य पढ़ा जाय, क्योकि एक बार पुन: बौद्ध-युग लौटा लाना पड़ेगा। इस रिपोर्ट को सबके अन्त में मैंने ही पढ़ा। मैंने बड़े आडम्बर के साथ पढ़ना शुरू किया – "अब तक तो आपने मठ, सेवाश्रम, अस्पताल, कॉलेज आदि का रिपोर्ट सुनी और अब सुनिये – गुफा की रिपोर्ट।" इस पर मिस मैक्लाउड बड़ी खुश हुईं और सभी लोग हँसने लगे।

कुछ दिन तक बहुत काम हुआ – मठ तथा मिशन के कार्यधारा में कोई परिवर्तन न होते हुए भी – इसके प्रशासन में बदलाव आया – Working Committee (कार्यकारी समिति) गठित हुई। नियम बना कि एक महन्त एक ही स्थान में आठ वर्ष से अधिक और कर्मी पाँच वर्ष से अधिक नहीं रहेंगे। भाषा सीखने के बारे में एक नियम बनाने के लिए स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द, सहजानन्द, अनादि महाराज तथा मैंने, एक प्रस्ताव पेश किया। विरोध में थे प्रधानत: पूज्य स्वामी शर्वानन्दजी। जिस दिन उस पर चर्चा होनी थी, उस दिन पूज्य शरत् महाराज अध्यक्षता कर रहे हैं, अत: हम तीनों आशंकित थे। निश्चित हुआ था कि ज्ञानेश्वरानन्दजी ही बोलेंगे अर्थात् वे ही विषय का सूत्रपात करेंगे, परन्तु समय आने पर वे पीछे हट गये। पूज्य शरत् महाराज के बुलाने पर वे बोले – "उठिये, उठिये, जाकर बोलिये।" मैंने संक्षेप में कहा – "कर्मी जिस अंचल में कार्य हेतु जायेगा, वह उस प्रान्त की भाषा सीखेगा, इससे वहाँ की आम जनता के साथ मेल-जोल में सुविधा होगी तथा श्रीरामकृष्ण-भावधारा के प्रचार में सहायता मिलेगी।" केवल अंग्रेजी भाषा की सहायता से विभिन्न प्रान्तों में प्रचार करना ठीक नहीं हो रहा है – यह बात मैंने दृष्टान्तों की सहायता से थोड़ा जोर देकर ही कही। यह कुछ कठोर हो गया। विरोधी पक्ष ने युक्ति दी कि ऐसा करने से ऊर्जा बरबाद होगी, क्योंकि एक स्थान पर महन्त को केवल आठ वर्ष और कर्मी को और भी कम रहना है, अत: इसकी जरूरत नहीं है। उत्तर में पुन: वैसे ही दृष्टान्त के साथ आम जनता से सम्पर्क न बना पाने के कारण क्या अवस्था हुई है – बताने पर पूजनीय शरत् महाराज ने – "तुम लोग क्या चाहते हो? भाषा सीखनी पड़ेगी, यही न! यह तो अच्छी बात है" – यह बात ऐसे कही मानो विजय हमारी ही हुई हो। मेरे उस प्रकार आक्रमणात्मक वक्तव्य से वे रुष्ट नहीं हुए थे, यद्यपि भाई लोग पहले आशंकित थे। ...

अमेरिका जाने का प्रस्ताव

अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द के शिष्य परमानन्दजी भी इस महा-सम्मेलन में भाग लेने आये थे। मेरे ऊपर उनकी सुदृष्टि पड़ी थी। एक दिन मठ में टहलते समय वे सहसा मुझसे बोले कि अपने कार्य में सहायक के रूप में वे मुझे अमेरिका ले जाना चाहते हैं और यदि मेरी सहमति हो, तो बाकी सारी व्यवस्था वे स्वयं करेंगे। मैं थोड़ा मुश्किल में पड़ गया। मैंने कहा – "मैं अपढ़ हूँ, मुझे ले जाने से आपका काम नहीं होगा।" वे बोले – "उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि तुम राजी हो, तो सब ठीक हो जायेगा।" मैंने कहा – "महाराज, इसके अलावा एक बात और भी विचारणीय है – मैं बड़े ही स्वाधीन प्रकृति का व्यक्ति हूँ, किसी की अधीनता करने में असमर्थ हूँ और रुपये-पैसे के लिए किसी के द्वार नहीं जा सकूँगा। यहाँ तो खाली-हाथ भी रहा जा सकता है, लेकिन उस देश में तो ऐसा नहीं चल सकता, इसलिये इस विषय में ...।" वे बोले – "रुपये-पैसे के बारे में तुम्हें कुछ भी करना या सोचना नहीं पड़ेगा। वह सब व्यवस्था हो जायेगी। और स्वाधीन भाव तो मुझे भी पसन्द है, वैसा ही कोई मुझे चाहिए। आने-जाने का खर्च मैं दूँगा, परन्तु केवल एक वचन तुम्हें देना होगा कि पाँच वर्ष वहाँ रहोगे।" मैंने कहा – "यदि इन पाँच वर्षों के दौरान ऐसा कुछ हो, जो मेरे जीवन के आदर्श के विरुद्ध हो, या जो मैंने अभी तक नहीं किया और वही करने को बाध्य होना पड़े, तो फिर मैं ...।" वे बोले – "ऐसा होने पर मैं तुम्हें भारत लौटने का खर्चा दे दूँगा।" मैंने कहा – "ऐसे उदार शर्तों पर मैं जा सकता हूँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु अधिकारी-वर्ग से मैं उस देश में जाने की बात नहीं कह सकूँगा।" वे बोले – "मैं ही कहकर सारी व्यवस्था कर लूँगा।"

सहसा एक दिन बुलावा आ गया। मुझे बुलाने के लिये आनेवाले स्वामी अखिलानन्द भी अमेरीका जाने वाले थे। Governing body (संचालक-मण्डल) की बैठक थी। पूज्य महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द), पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द), पूज्य गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) तथा अन्य कई लोग उपस्थित थे।

पू. शरत् महाराज – "तुम अमेरिका जाने को राजी हो?"

मैं – "जी, यदि आप लोग कृपा करके भेजें, तो जा सकता हूँ।"

– "क्या तुमने परमानन्द स्वामी से कहा है कि जाओगे?"

मैं – "उन्होंने स्वयं ही कहा था और उसके उत्तर में मैंने कहा था कि यदि ले जायँ, तो मुझे आपत्ति नहीं है।"

पूज्य गंगाधर महाराज – "नहीं, इसका जाना नहीं हो सकता। मैंने उसका हाथ पकड़कर कुछ दिनों के लिए अपने पास आकर रहने के लिए कहा था, तो यह कैसे भी राजी नहीं हुआ और स्पष्ट रूप से बोल दिया कि नहीं जाऊँगा।"

शरत् महाराज ने पूछा – "क्या इन्होंने तुमसे कहा था?

मैंने कहा – "इन्होंने अपने यहाँ जाकर ग्रामीण विकास के लिए काम करने को कहा था। पर मैं इसलिए राजी नहीं हुआ कि इनकी कोई निश्चित योजना नहीं है। दूसरी बात यह

कि मैं दूसरों के पास से धन-संग्रह नहीं कर सकता, अत: मैंने सूचित किया कि वह मेरे द्वारा नहीं हो सकेगा।''

शरत् महाराज (गंगाधर महाराज) से – ''इसने तो ठीक ही कहा – तुम्हारा कुछ भी निश्चित नहीं है।''

गंगाधर महाराज – ''नहीं, यह बात नहीं है। मैंने उसका हाथ पकड़कर कहा, तो भी वह राजी नहीं हुआ। उसका जाना नहीं हो सकता।''

पू. महापुरुष महाराज – ''ठीक है, साल भर वह कोई आश्रम चलाये, उसके बाद परमानन्द स्वामी के पास जायेगा।''

परमानन्द स्वामी को बुलवाया गया और उन्हें इस बात से अवगत कराया गया। वे भी राजी हो गये।

पू. शरत् महाराज – ''दुखी मत होना। महापुरुष महाराज कह रहे हैं, तो उन्हीं की बात रहे। जाओ।''

कुर्सियांग (दार्जिलिंग)

महा-सम्मेलन (Convention) इसी प्रकार समाप्त हुआ। हिन्दू-मुसलमानों के भीषण दंगे के बावजूद कोलकाता से बहुत-से लोग उसमें भाग लेने आये थे। उसके समाप्त हो जाने के बाद एक मित्र के निमंत्रण पर मैं कुर्सियांग (दार्जिलिंग) गया। वहाँ मैं उनके 'हिमालय' नामक भवन में ठहरा था। बड़ी सुन्दर दृश्यावली थी। धर्म-माँ भी गई थीं। उनके साथ मेरा धर्मभाई भूतू भी था, जिसकी आयु उस समय चार या साढ़े चार वर्ष रही होगी। उसका जैसा रूप था, वैसा ही गुण था – अति शान्त – पवित्रता की प्रतिमूर्ति था। उसका एक काम था – नित्य भोजन के बाद मेरे पास आकर मेरे सिर पर हाथ फेरना और कहानियाँ सुनना। एक दिन मैं उसे टॉल्स्टाय की उस मोची भक्त की कहानी सुना रहा था। मैंने कहा – ''ईसा कह रहे हैं – मैं निराश्रय था, तुमने मुझे आश्रय दिया; मैं वस्त्रहीन था, तुमने मुझे वस्त्र दिया; मैं भूखा था, तुमने मुझे अन्न दिया – मैं आया था, मार्टिन, मैं आया था।''

देखा – उसकी आँखें आसुओं से डबडबा आई थीं। उसके बाद करीब दो सप्ताह तक वह रोज यही कहानी सुनना चाहता था और प्रतिदिन उसकी आँखें आँसुओं से भर जाती थी। उतना-सा बालक, क्या समझता था – कौन जाने! पूछने पर कहता – ''अच्छी लगती है।'' एक अन्य दिन उसके एक अन्य आचरण ने मुझे विस्मित कर दिया था। मेरे बिस्तर पर बैठकर और सूँघकर बोला – ''साधु-साधु गन्ध हैं।'' मैं – ''वह क्या है रे?'' – ''हाँ, यही तो साधु-साधु गन्ध है।'' मैं अवाक् रह गया। मेरी नाक में तो पसीने के सिवा और कोई गन्ध नहीं आई। यह बात माँ को कहने पर उन्होने फिर वही प्रश्न किया और उसने वही उत्तर दिया – ''हाँ, साधु-साधु गन्ध।''

सुन रखा था और जानता भी था कि हर व्यक्ति का अलग गन्ध होता है, प्रत्येक स्त्री या पुरुष के परमाणुओं के भिन्न-भिन्न गन्ध होते हैं, परन्तु इस बात में सन्देह था कि चरित्र-विशेष से भी गन्ध में तारतम्य होता है। इसके बाद एक घटना और हुई, जिसने सबको आश्चर्य में डाल दिया। दो-तीन दिन बाद घर के कई लोगों के बिस्तरों के चादर आदि सोडा-साबुन से धोये गये थे। शाम को चाय पीते समय सभी एकत्र हुए थे। मैंने बालक को देखकर कहा – ''भूतू, बता तो, मेरे बिस्तर की चादर कौन-सी है?'' सब चादरें नयी और एक ही तरह की थीं। केवल मेरी चादर के कोने में ही एक छोटा-सा चिह्न बना हुआ था, ताकि वह अन्य चादरों में मिल न जाय, परन्तु भूतू यह बात नहीं जानता था। उसने जाकर हर चादर सूँघनी शुरू की और ठीक मेरी चादर निकालकर बोला – ''यह रहा गन्ध।'' बड़े आश्चर्य की बात! इतने सोड़ा-साबुन में उबालने के बाद भी गन्ध था। बालक कभी झूठ नहीं बोलेगा। मैंने उसे बड़ा दुलार किया, परन्तु यह बात किसी भी प्रकार मेरी समझ में नहीं आयी कि इतना धोने के बाद भी चादर में वह गन्ध रह कैसे गया!

बहुत दिन बाद कलकत्ता लौटकर 'माडर्न रिविउ' (Modern Review) मासिक पढ़ रहा था, देखा जर्मनी के पुलिस-कुत्ते उसी प्रकार सूँघते-सूँघते अपराधियों को पकड़ते हैं। उसमें लिखा था – यदि कोई व्यक्ति यदि किसी गाँव में अपराध करके बहुत दूर भी भाग जाय, तो उसके द्वारा स्पर्श या उपयोग की हुई कोई चीज एक बार सुँघा देने पर वे कुत्ते सूँघते-सूँघते सड़क पर चलते है। कुत्तों को रेलगाड़ी से ले जाने पर उन्हें स्टेशनों पर उतारकर सुँघाना पड़ता है – इसके बाद वह गन्ध के द्वारा वह दोषी को ठीक ढूँढ़ निकालता है। बस, फिर तो गन्ध रह जाती है, नष्ट नहीं होती है। उस देश में ठण्ड के कारण जूते पहनकर हजारों लोग सड़कों पर चलते हैं, तो भी उस व्यक्ति की गन्ध कैसे रह जाती है? यह बड़े आश्चर्य की बात है!

पर अब भूतू की बातों पर संशय नहीं रहा – दुनिया में कुछ भी नष्ट नहीं होता, सर्वदा सूक्ष्म अवस्था में बना रहता है। स्वामीजी एक जगह कहते हैं – विचार रह जाते हैं, नष्ट नहीं होते। इसीलिए आज भी हम भगवान बुद्ध और ईसा से प्रेरित होते हैं, भावों के उस स्तर में मन जाते ही उस विचार से प्रभावित होते हैं। 'स्थान-माहात्म्य' भी क्या इसी तरह का कुछ नहीं है? क्या इसीलिये कहते हैं कि महापुरुषों द्वारा उपयोग में लायी हुई वस्तुएँ पवित्रता का भाव संचरित करती हैं। यह बात न मालूम हो, तो भी संचार करती है! सुना है कि एक व्यक्ति को एक तलवार मिली। उसे हाथ में लेते ही उसके मन में भीषण भयंकर क्रूर भाव के विचार आने लगे, खून करने की इच्छा होने लगी। वह व्यक्ति बड़ा शान्त-शिष्ट और अच्छे स्वभाव का था। वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया –

यह क्या? बाद में पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि वह तलवार एक क्रूर खूनी की थी। इसमें सत्य कितना है, यह तो भगवान ही जानें, पर भूतू की घटना से यह धारणा हुई कि हर व्यक्ति के शरीर में एक खास तरह की गन्ध होती है, जिसमें उसके चरित्र की विशेषता रहती है। वह गन्ध उसके वस्त्र आदि में रहती है, जो धोने से भी नष्ट नहीं होती है।

सैयदपुर, कलकत्ता और पुरीधाम

बड़े भाई के विशेष आग्रह पर कुर्सियांग से सैयदपुर गया और वहाँ करीब एक महीने रहा। मन में पूर्व की स्मृतियों का उदय होने पर, किसी आकर्षण का बोध नहीं हुआ। बल्कि उल्टे और भी वितृष्णा हुई – कैसे संसार करते हैं! इसमें आनन्द कितना-सा है! परन्तु यह तो महामाया का जबरदस्त फन्दा है, इससे बाहर निकलना बड़ा कठिन है। यही सहज प्रवृत्ति है। आदमी भला क्या करेगा?

सभी एक साथ कलकत्ते लौटे। बड़े भाई के बड़े पुत्र की पूज्य कालीकृष्ण महाराज (स्वामी विरजानन्दजी) की भतीजी के साथ शादी थी, इसलिए साथ रहना ही होगा। अनिच्छा के बावजूद राजी हुआ। विजय बाबू के साथ भेंट हुई। उनके यहाँ नहीं गया। इन झंझटों की बात सोचते ही मन आतंकित-सा हो उठता है। ये लोग दिन-रात यही सब लेकर कैसे रहते हैं। वैसे संसारी के मन में झंझट का बोध नहीं होता। फिर कुछ दिन 'चाँपातला' में रहकर पुरी धाम चला गया।

सिद्धानन्द स्वामी ने वहाँ पुटिया रानी के भाई के मकान में मेरे रहने की व्यवस्था कर दी थी। वह प्राय: खाली ही पड़ा था, केवल ब्रह्मचारी शशीकुमार रहते थे। पुरी में कुछ दिन अच्छे बीते। फिर गया – वाल्टेयर तथा विशाखापत्तनम्।

वाल्टेयर तथा विशाखापत्तनम्

दक्षिणी भारत के भ्रमण की इच्छा से ही यह यात्रा हुई। एक व्यक्ति ने वहाँ रेल्वे के एक तेलुगू डॉक्टर के मकान में रहने की व्यवस्था कर दी थी। वहाँ सूचना देकर ही गया था, पर जब वहाँ पहुँचा, तो वे नहीं थे। उनके पिता थे। गेरुआ वस्त्र देखते ही उन्होंने कह दिया – "जगह नहीं है।" जब पूछा कि वे ही डॉक्टर हैं या नहीं, तो बताया कि वे डॉक्टर के पिता हैं। मैंने पूछा कि क्या मैं वहाँ अपनी पोटली रखकर स्थान ढूँढ़ने जा सकता हूँ, तो भीतर से नारी-कण्ठ में उत्तर आया – "हाँ रख दीजिये, वे शाम को आयेंगे।"

अत: पोटली को वहीं रखकर मैं एक सेवानिवृत्त अधिकारी पन्तुलू की खोज में चला। एक सज्जन ने उनके बारे में विशेष रूप से बताया था। बड़ी मुश्किल से उनका मकान मिला, पर वे भी नहीं थे – दो-तीन दिनों बाद लौटेंगे। सोच रहा था – क्या करूँ? इतने में एक वृद्ध की कृपादृष्टि पड़ी। उन्होंने कहा – पास में ही नदी के किनारे सरकार नामक एक बंगाली इंजीनियर रहते हैं; वे बड़े सज्जन हैं और इनके मकान में कई कमरे खाली हैं। वृद्ध का उनसे विशेष परिचय था, अत: उनके साथ मैं उधर गया। उधर वे काम से लौटे और इधर से हम पहुँचे। सचमुच बड़े सज्जन थे। सब सुनकर सामने का कमरा खुलवा दिया और वहीं भिक्षा पाने का निमंत्रण दिया। धन्यवाद देकर वृद्ध को विदा दिया। शाम को भोजन के बाद अपनी पोटली लाने डॉक्टर के घर गया। उन्होंने बहुत क्षमा माँगी और नाश्ता कराने के बाद ही छोड़ा।

समुद्र के ऊपर ही मकान था। दरवाजा से पानी का खेल दिखता था। कुछ दिन आराम से रहा। एक दिन उन पन्तुलू से भेंट हुई। वे काफी धार्मिक तथा विनयी थे। घूमने जा रहा था, वे भी साथ हो लिये। कई तरह की धर्मचर्चा होने लगी। एक ईसाई की दुकान पर मोमबत्ती खरीदने गया, वे भी साथ थे। एक मेम कुछ खरीद रही थी। दुकानदार ने हमको बैठने के लिए कहा। हम दोनों कुर्सी पर बैठ गये। तभी एक अंग्रेज युवक आया और पन्तुलू घबड़ाकर खड़े हो गये। जब तक वह युवक रहा, तब तक वे भी ससम्मान खड़े रहे। मेम की खरीदारी समाप्त होने पर वह युवक एक चुरुट (सिगार) लेकर चला गया और तभी वे बैठे। मुझे लगा था कि शायद कोई परिचित अफसर होगा, इसीलिए पन्तुलू इतना सम्मान दिखा रहे थे। मोमबत्ती खरीदकर बाहर आने पर पूछा – वह साहब कौन था? उन्होंने बताया कि वे नहीं पहचानते। मैंने हैरान होकर पूछा – "जब आप पहचानते ही नहीं, तो खड़े होकर इतना सम्मान क्यों दिखा रहे थे?" वे बोले – "शायद कोई अफसर होगा।" वाह, क्या बात है! घृणा से मेरा सारा शरीर जल उठा। मैंने कहा – "जब तक आपके जैसे गुलाम जीवित रहेंगे, तब तक भारत के लिये कोई आशा नहीं है। फिर आप धार्मिक भी हैं? जो गुलाम है, वह क्या धार्मिक भी हो सकता है? मुझे तो विश्वास नहीं होता। जो व्यक्ति एक अज्ञात अपरिचित लड़के को, केवल उसके सफेद रंग के कारण इतना सम्मान कर सकता है, ऐसे मनुष्य के संग से मैं घृणा करता हूँ। उसके द्वारा निम्न गति होने की सम्भावना अधिक है। कृपा करके अब मेरे पास मत आइयेगा।"

पन्तुलू लज्जा से अवनत होकर चले गये। उनसे दुबारा भेंट नहीं हुई। मनुष्य में इतनी दासता भी सम्भव है! इस दासता का बन्धन बाहर नहीं, भीतर है। भीतर के मनुष्य को बदले बिना बाहर की दासता दूर नहीं होगी। हाय भगवान, भारत की यह क्या दशा हुई है! यदि कोई गीता के धर्म का मर्म भी समझता, तो क्या आज हिन्दुओं की यह दशा होती!

इसके बाद एक तेलुगू डॉक्टर से परिचय हुआ। उन्होंने आठ-दस दिन मुझे अपने मकान में रखा था। उनकी चेष्टा से टाउन-हॉल में तीन व्याख्यान हुए। विजयनगर के महाराज-कुमार ने अध्यक्षता की। आखिरी दिन आन्ध्र विश्वविद्यालय की स्थापना के सन्दर्भ में एक सभा हुई। उसके लिये प्रयास

चल रहा था, धन-संग्रह जारी था। सभा में शिक्षा के माध्यम को लेकर तर्क उठा। सभापति तथा कई लोग अंग्रेजी के पक्ष में थे। दो-तीन जन मातृभाषा के पक्षधर थे। मुझसे भी कुछ बोलने का अनुरोध होने पर मैं मातृभाषा के पक्ष में बोला और जापान का दृष्टान्त दिया। इस प्रसंग पर भी बातचीत हुई कि किस प्रकार नये-नये शब्दों की रचना करके अपनी राष्ट्रीय भाषा की उन्नति हो सकती है। इस बात पर भी वाद-विवाद हुआ कि हिन्दी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जा सकती है या नहीं। मैं बोला – बड़ी आसानी से दी जा सकती है और आसानी से ही हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। महाराज कुमार ने कहा – कम-से-कम तीन वर्ष लगेंगे। मैंने चुनौती देकर कहा कि मैं दस महीने में ही उन्हें वह ज्ञान दे सकता हूँ और अनुकरण को छोड़ करके मौलिक मार्ग अपनाने पर ही जोर दिया।

मेरे मेजबान डॉक्टर अब्राह्मण थे और ब्राह्मणवाद के प्रश्न पर बातें करते हुए अपना सिर बहुत गरम कर लेते। वे क्रोधित होकर कहते – "ब्राह्मणों के जुल्म का कोई अन्त नहीं। हमारे ऊपर बहुत अत्याचार किये हैं। हम किस चीज में छोटे हैं?" एक दिन मैंने कह दिया – "आप लोग जो स्वयं को निकृष्ट सोचते हैं, यही प्रमाणित करता है कि आप लोग निकृष्ट हैं। जो निकृष्ट नहीं होता, वह सपने में भी ऐसी बात नहीं सोचता और भीतर बल होने पर यदि कोई वर्ण विशेष उत्कृष्टता का दावा करे, तो स्पष्टत: उसकी उपेक्षा करेगा। जैसे अंग्रेज आज राज्य कर रहे हैं। यदि वे स्वयं के बारे में एक उत्कृष्ट जाति होने का दावा करें और यदि मैं मान लूँ, तो समझना होगा कि मैं निकृष्ट हूँ। यह सत्य है वर्तमान में उनका बुद्धि-बल, देह-बल अधिक होने के कारण उन्होंने हमें दबा रखा है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम मान लें कि वे एक उच्चतर जाति के लोग हैं। हाँ, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि ईश्वर ने सृष्टि में ऊँची-नीची जाति की सृष्टि नहीं की। उन्होंने ऐसा किया है, यह तो स्पष्ट दिखता है, परन्तु यह भी सत्य है कि किसी के राज करने या हुक्म चलाने से ही वह श्रेष्ठ जाति का नहीं हो जाता। बर्बर जाति के लोगों ने सभ्य जातियों पर अधिकार जमाकर राज्य किया है। इसीलिए ब्राह्मणों के विरुद्ध विष-वमन न करके अपने लोगों की अवस्था में सुधार कीजिये। खूब संस्कृत पढ़िये, शास्त्र-चर्चा कीजिये। आचार-निष्ठा कायम रखिये। तब देखेंगे कि वे स्वयं ही आप लोगों को सम्मान दे रहे हैं। देखते नहीं कि जितने अवतार हुए हैं, वे सब क्षत्रिय हैं और पुजारी सब ब्राह्मण। सबसे श्रेष्ठ स्थानों पर क्षत्रिय बैठे हुए हैं। (इस बात पर डॉक्टर बड़े खुश हुए)। समाज में उन्हें जो सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है, यह तो समाज में उन्हें पहले से ही प्राप्त है। अब यदि समाज व्यवस्था अन्य प्रकार की हो जाय, तो वे स्वत: ही स्थानच्युत हो जायेंगे। अब तो राज्य वे चला नहीं रहे हैं और म्लेच्छ राजा के दरबार में सभी समान हैं। जिनमें गुण हैं, वे ही स्थान पाते हैं। अब तो ऐरो -गैरो कोई भी हुक्म चलाता है, तो भी आप लोग ब्राह्मण-अब्राह्मण के प्रश्न पर इतने उत्तेजित क्यों होते हैं। इस प्रश्न को भूल जाइये और काम करते रहिये। अपने समाज की उन्नति में लगे रहिये। इसी से सच्चा कल्याण होगा।

मद्रास-दर्शन

वाल्टेयर से सीधा मद्रास गया। वहाँ करीब बीस दिन रहा। वहाँ के म्यूजियम की अपेक्षा केन्द्रीय ग्रन्थालय ज्यादा अच्छा लगा और समुद्र का तट भी सुन्दर था। मिशन का छात्रावास (Students' Home) देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। बड़ा सुन्दर कार्य हो रहा था और मिशन की उसके जैसी अन्य कोई संस्था नहीं थी। नि:सन्देह इसके लिये यश के भागी हैं श्री रामस्वामी तथा रामानुज अयंगार। दोनों भाइयों ने इस संस्था को बड़े सुन्दर ढंग से गढ़ा है। मठ किसी तरह चल रहा था। डॉक्टर बेसेंट का अड्यार बड़ा सुन्दर स्थान था और बड़ा व्यवस्थित है। ग्रन्थालय भी बड़ा अच्छा है। काफी जमीन लेकर उपनिवेश के समान दूर-दूर मकान आदि बने हुए थे। हाथ में पैसे कम होने के कारण सोचा था कि पैदल ही तीर्थ-यात्रा करूँगा। महन्त चुप रहे, पर भक्त मुन्नूस्वामी तथा वृद्ध अय्यर – दोनों ने कैसे भी जाने नहीं दिया और साठ-पैंसठ रुपये एकत्र कर दिये। मुन्नुस्वामी ने ही अधिकांश दिया था। अत: रेलगाड़ी से ही चिदम्बरम्, मदुरै, रामेश्वरम् और धनुषकोटि आदि गया। मन्दिरों की नक्काशी सचमुच ही अति प्रसंशनीय तथा दर्शनीय भी थी। कला का अद्भुत विकास देखकर विस्मित रह जाना पड़ता है। यह उत्तर भारत से पूर्णत: भिन्न है और पूर्णत: द्रविड़ छाप लिये गौरव से खड़ा है। वस्तुत: यह उड़ीसा से ही शुरू होता है, पर पुरी तथा भुवनेश्वर जैसा दक्षिण में नहीं है और उसका गाम्भीर्य दक्षिण में नहीं दीखता। दक्षिण में गोपुरमों का निर्माण ही विचित्र प्रकार का है और अद्भुत नक्काशी से युक्त है। मूल मन्दिर प्राय: छोटे हैं। तड़क-भड़क सब बाहर ही है। बंगाल की ही तरह सुन्दर प्रान्त है, केवल थोड़ा सूखा है।

फिर पैसा खत्म होने के कारण नागरकोइल होकर सीधा कन्याकुमारी गया। नागरकोइल के सब-जज महाशय ने बड़े सम्मान से भोजन कराया और जितने दिन चाहूँ, कन्याकुमारी के धर्मशाले में रहने की व्यवस्था करा दी। बस-ड्राइवर ने ही उनके बारे में बताया था और मुझे अपने साथ ले गया था। फिर परिचय होने के बाद पता चला कि वे पूजनीय तुलसी महाराज (निर्मलानन्दजी) के शिष्य हैं। उनसे वादा किया कि लौटते समय उनके यहाँ दो-एक दिन रहूँगा, तभी कन्याकुमारी जाने की छुट्टी मिली। ❖ **(क्रमश:)** ❖

ईशावास्योपनिषद् (७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

उपनिषद कहते हैं कि जिसे भीतर तुमने अनुभव किया, वह पूर्ण है और बाहर जो तुमको दिखता है, वह भी पूर्ण है। इदं की व्याख्या उपनिषद करते हैं – ईशावास्यं इदं सर्वं – जो कुछ तुमको दिख रहा है, वह उस ईश्वर से आच्छादित है। भगवान शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या की है – यह 'वस्' धातु से 'वास्यं' शब्द संस्कृत में बनता है। 'वस्' धातु का अर्थ ओत-प्रोत होना, रहना या निवास करना भी होता है। उपनिषद में आत्मसाक्षात्कार के दो मार्ग बताये गये हैं। एक मार्ग है 'आवृत्त चक्षु:'। कठोपनिषद ने कहा है कि अमृतत्त्व की इच्छा करके आँखें बन्द कर लें। अर्थात् निवृत्ति-मार्ग, संसार का कर्म छोड़कर, नित्यकर्म करके दिनभर आत्मचिन्तन में लगना। किन्तु सब लोग यह नहीं कर सकते। इसलिये उनके लिये उपनिषद दूसरा मार्ग बताते हैं। तुमने आँख खोलकर यह देखने का प्रयास किया कि तुम्हारे भीतर जो चैतन्य है, वही बाहर भी है। बाहर और भीतर वही चैतन्य, वही ईश्वर विराजमान है। इसलिये इसका स्मरण करो। इसे कहीं से लाना नहीं है, वह जैसा है वैसा ही है। ईश्वर का अस्तित्त्व बाहर भी है और हमारे भीतर भी है। जब आँख बन्द करें तो यह सोचें कि हमारे भीतर की सत्ता का हमें बोध हो और जब आँख खोलें तो मानें कि वही चैतन्य बाहर भी आच्छादित है।

हमने यह विचार कर लिया कि यह ईशावास्यं – ईश्वर से आच्छदित है। इसलिये प्रवृत्तिमार्ग में जो कुछ करेंगे, वह ईश्वर के लिये करेंगे। निवृत्ति मार्ग भी तो ईश्वर-मार्ग ही है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का समन्वय करके चलेंगे तो वह राजमार्ग होगा। अपने व्यक्तित्व के अनुसार, शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं। ये एक दूसरे के परिपूरक हैं। इन दोनों भागों में कोई झगड़ा नहीं है। हमारे रग-रग में, वह ईश्वर समाया हुआ है। फिर हमको वह दिखता क्यों नहीं है? हमको इसका अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? यदि संसार के हर कण में वह व्याप्त है तो उसका अनुभव हमें होना चाहिये। इसके लिये क्या करें? उपनिषद कहते हैं कि पहले उसके सम्बन्ध में जान लो, सुन लो।

ईशावास्यं – यह ईश क्या है? भगवान शंकराचार्य कहते हैं – जो शासन करे, जो सबका संचालन करे, उसका नाम ईश या ईश्वर है। कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो सबका संचालन करती है? वह है ईश-शक्ति। ईश-शक्ति का हमें दर्शन नहीं होता है, इसका मूलकारण है 'अज्ञान'। अज्ञान के कारण हम कष्ट पाते हैं। साधना की दृष्टि से अज्ञान का कारण है भोगेच्छा या वासना। इस संसार को भोगने की इच्छा, इन्द्रियसुखों में डूबे रहने का नाम अज्ञान है। इस अज्ञान ने ऐसी हमारी बुद्धि को आच्छादित करके रखा है कि न तो हम भीतर के चैतन्य का दर्शन कर पाते हैं और न ही बाहर के चैतन्य का। अज्ञान क्या करता है? यह हममें कर्ता-बुद्धि उत्पन्न करता है – 'जो कुछ है वह मैंने ही किया है। मैंने यह किया, वह किया' इत्यादि। दूसरा अज्ञान हममें भोक्ता-बुद्धि उत्पन्न करता है – 'मैं भोग करूँगा, मैं सुखी रहूँगा, मैंने इसको कमाया है, तो मैं इसका भोग करूँगा।' इस प्रकार कर्ता और भोक्ता की दृष्टि हमारे जीवन में आती है और वह अज्ञान को ढँककर रखती है। अगर हम कर्ता की दृष्टि से मुक्त हो जायेंगे तो भोक्ता की दृष्टि अपने आप विसर्जित हो जायेगी।

उपनिषद कहता है यह ईश्वर ही शासन करता है। वही सब कार्य करता है, वही सबका मलिक है। किन्तु जब हम कहते हैं कि यह हमने किया है, तो हमारा अहंकार दृढ़ होता है। ऐसे होने से हम स्वयं को मालिक समझते हैं और ज्योंहि हममें कर्ता-बुद्धि आती है त्योंही हम कहते हैं, यह हमने किया। यह मेरा घर, यह मेरी सम्पत्ति, यह मेरा संसार – 'मैं और मेरा' – मैंने अपने को मालिक समझ लिया। व्यवहारिक दृष्टि से हमें विचार करना चाहिये। हम क्या कर सकते हैं? किसके हम मालिक हैं? कितने हम स्वाधीन हैं? हमने दिवारें तो बड़ी-बड़ी खड़ी करके रखी हैं, किन्तु मालिक तो वह है जो मनचाहे कर सके। जिस संसार के हम मालिक बनते हैं, सोचकर देखिये कि हम मनचाहे कुछ कर सकते हैं? अपने शरीर से भी मनचाहे कुछ नहीं कर सकते। दो घण्टे हम चुपचाप बैठ नहीं सकते, हम विवश हैं, दास हैं। फिर भी मालिक होने का एक अहंकार है। यह जायेगा कैसे? इतनी बड़ी पृथ्वी के कितने मालिक हुये, कितने सम्राट हुये, राजा हुये, जमींनदार हुये, किन्तु आज वे कहाँ गये? जिन्होंने बड़े-बड़े किले बनवाये, वे कहाँ गये? किन्तु इन किलों का जो असली मालिक था, वह आज भी है। वह पत्थर जिस खदान से लाया गया, उस खदान का मालिक आज भी है। वह खदान जिस पृथ्वी पर था उस पृथ्वी का मालिक आज भी है, जिसने सूर्य-चन्द्र-ब्रह्माण्ड को बनाया।

हम थोड़ा-सा विचार करके देखेंगे तो पायेंगे कि इस संसार में वस्तुत: हम कहीं के मालिक नहीं हैं, पर यह हमारे ध्यान में नहीं रहता है।

जब हमने जन्म लिया तो क्या भगवान ने हमसे पूछा था कि तुम कहाँ जन्म लेना चाहते हो? हम वृद्ध हुए तो क्या भगवान ने हमको पूछा था कि तुम वृद्ध होना चाहते हो या नहीं? नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं पूछा था। अत: हम यह जान कर रखें कि हम कुछ नहीं कर सकते। जन्म, मृत्यु, जीवन-मरण में हमारी स्वाधीनता नहीं है। मृत्यु के समय यमराज क्या हमें पूछकर ले जाते हैं? एक झटके में हम चले जाते हैं। इन घटनाओं से यह बात समझ में आती है कि कर्ता तो वही है, मैं कुछ नहीं हूँ, ऐसी बुद्धि जब होगी तब याद आयेगी – 'ईशावास्यं इदं सर्वम् – वही ईश, परमात्मा, मेरे जीवन का संचालन कर रहा है। वही परमात्मा सारे जगत को चलाता है। जब यह बात समझ में आयेगी तो उसका पहला लक्षण यह होगा कि अहंकार टूटने लगेगा। साधक को जब यह समझ में आयेगा कि यह मैं नहीं कर रहा हूँ, प्रभु ही सब कर रहे हैं, तब उसका अहंकार टूटने लगता है। जैसे-जैसे अहंकार टूटता जायेगा, वैसे-वैसे हमारे अन्दर सत्य आविर्भूत होता जायेगा। चैतन्य सत्ता का प्रकाश हमारे भीतर आता जायेगा। हम धीरे-धीरे अनुभव करने लगेंगे कि ईश्वर ही बाहर और भीतर है, वही सत्य है। इसी सत्य का स्मरण करना पड़ेगा। यदि वही इस संसार का मालिक है, तो जो वस्तुयें हमने प्राप्त की हैं, वह उसी की हैं। जैसे सोने का उदाहरण लें। 'सोना' एक ही है, किन्तु उसके आभूषण अलग-अलग बनते हैं। अलग कब है? जब कंगन बनता है तो उसका एक रूप और एक नाम होता है, नथ का दूसरा रूप और दूसरा नाम है। इसी प्रकार नाम और रूप से सब अलग हैं। किन्तु नाम और रूप हटा दिया जाय, तो केवल सोना ही रहेगा। इसलिये अहंकार तोड़ने के लिये यह सोचना आवश्यक है कि यह जो संसार दिख रहा है वह नाम और रूप के कारण अलग दिख रहा है, किन्तु है वह एक ही। व्यवहार में भेद करते हुये यह सदैव स्मरण रखना होगा कि अगर नाम-रूप हटा दिया तो जैसे विभिन्न आभूषणों में स्वर्ण को छोड़कर और कुछ नहीं है, उसी प्रकार इस संसार में यदि नाम रूप हटा दिया जाय, तो वही चैतन्य नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध विराजमान है। उस सत्ता की अनुभूति के लिये ही यह सारी योजना है।

इसका उपाय क्या है? इस मन्त्र का दूसरा भाग 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्'। ऋषि कहते हैं – त्याग के द्वारा भोग करो। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि हमारी तरह संन्यासी ही हो जाओ। इस संसार में हो तो संसार का भोग करो। पर कैसे? त्यागपूर्वक भोग करो। किसी के भी धन का लोभ मत करो। पहले हमने देखा कि अहंकार मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक है। उसे कैसे दूर करें, यह भी हमने देखा। अब दूसरी बात हम देखेंगे श्रीरामकृष्ण ने बताया है 'काम-कंचन का मोह' तथा अन्य सत् पुरुषों ने बताया है कि धन की आसक्ति एवं भोगेच्छा मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने नहीं देती। तब क्या करें? क्या हम भिखारी हो जायँ? अगर भीख माँगने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता, तो भारतवर्ष के आधे लोग तो ब्रह्मज्ञानी ही हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये उपनिषद हमें यह सूत्र बता रहा है – मा गृध: कस्यस्विद्धनम्। गृध: माने लोभ और गिद्ध पक्षी को भी संस्कृत में गृध कहते हैं। गिद्ध पक्षी क्या करता है? चाहे वह जितनी भी ऊँचाई पर उड़े, किन्तु उसकी दृष्टि सड़े हुये मूर्दों पर ही रहती है। धन का लोभ भी इसी प्रकार है। हम कितने भी सत्संग करें, प्रवचन करें, प्रवचन सुनें, मन्दिरों में जायँ, किन्तु मन में यदि ऐसा लगे कि संसार का भोग भी साथ-साथ चलता रहे तो सारी आध्यात्मिकता हवा हो जायेगी, उससे कुछ काम नहीं होगा। इसलिये 'मा गृध:' – लोभ मत करो। 'कस्यस्विद्धनम्' आचार्य कहते हैं – न दूसरे के और न अपने धन का लोभ करो। धन किसका रहा है? किन्तु साधना की दृष्टि से यह बात उतनी समीचीन नहीं लगती है। एक व्यक्ति दूसरे के धन का लोभ नहीं रहा है, किन्तु अपने धन का तो लोभ कर रहा है। लोभ तो रह ही गया। अत: आध्यात्मिक जीवन नहीं बन पा रहा है। लोभ यदि अपने धन पर हो या दूसरे के धन पर, लोभ तो लोभ ही है। लोभ नरक का द्वार है – 'त्रिविधं नरकस्य द्वारम्, नराणाम् आत्मन:, क्राम: क्रोध: तथा लोभ:'। गीता में भी कहा गया है कि लोभ नरक का द्वारा है'।

अब व्यवहार में यह लोभ कैसे मिटे, इस पर विचार करें। लोभ तब मिटेगा जब हम वस्तुस्थिति को समझ लेंगे। हमें यह मालूम हो जाय कि संसार में जो कुछ है वह यहीं रह जायेगा। यह संसार इतना बड़ा है, इसमें कितना धन है, उसमें मेरा धन कितना है। संसार में या सरकार के पास जो धन होता है, उससे कितना कम अंश व्यक्ति के पास होता है और वह इस धन पर लोभ करता है, अभिमान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धन का अस्थायी मालिक है। वह धन जब उसके पास नहीं था, तब दूसरे के पास था और अभी जो है वह कितने दिन उसके पास रहेगा? उसकी मालकियत तो थोड़े दिन रहेगी। संसार के बड़े-बड़े राजाओं को देखेंगे तो पायेंगे, उनके पास इतना धन था। वह अब कहाँ गया? यह सब सम्पत्ति भगवान की है, परमात्मा की है। हमारा यह परम सौभाग्य है कि उस परमात्मा ने अपने धन का कुछ अंश देकर हमको धनवान बनाया है। इसलिये हम उस धन के न्यासी मात्र हैं, Trustee हैं। अगर यह धन सुकार्य में

लगाया गया तो उसके द्वारा भी हमें मुक्ति मिल सकती है, हमारी चित्तशुद्धि हो सकती है। धन के लोभ से बचने का एक उपाय है कि हमेशा यह स्मरण रहे कि इस धन का मैं मालिक नहीं हूँ। यह सम्पत्ति तो उसी प्रभु की है। उसी ने इतना अंश मुझे दिया है। इसलिये कहते हैं 'मा गृधः' – धन का लोभ मत करो। संसार में हमें सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, किन्तु आसक्ति मत करो। स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी कहते हैं – त्यक्तेन को त्यागेन कहना चाहिये। जो कुछ हमने संसार में देखा है, विषयों के सम्पर्क में हम आये हैं, तो उसका भोग करेंगे। किन्तु सदैव यह स्मरण रखो – भोगों के प्रति आसक्त मत होओ। जीवित रहने के लिये भोग करें, किन्तु आसक्त न हों। अगर हम आसक्त हो जायेंगे तो तात्कालिक सुख तो मिलेगा, किन्तु शाश्वत सुख नहीं मिलेगा। उपनिषद कहता है कि विचार करके देखो, आज तक तुमने जो भोग किया, क्या उन भोगों से तुम्हें स्थायी सुख या शान्ति मिली है? हम सबका अनुभव यह बताता है कि नहीं, हमें स्थायी सुख या शान्ति नहीं मिली है। तब इन भोगों को त्यागपूर्वक कैसे भोगें? भगवान श्रीरामकृष्णदेव के मन में एक बार इच्छा हुई कि मुझे कीमती गरम शाल ओढ़ना चाहिये तथा चाँदी के हुक्के से तम्बाकू पीना चाहिये और रेशमी धोती पहननी चाहिये। मथुर बाबू ने तुरन्त यह सब व्यवस्था कर दी। ठाकुर बहुत प्रसन्न हुये। ठाकुर ने रेशमी कपड़ा पहन लिया, शाल ओढ़ ली और चाँदी के हुक्के से तम्बाकू पीने लगे। एक बार दायीं ओर से, एक बार बायीं ओर से हुक्का पीया और अपने मन से कहा, अरे, मन देख, इसी को कहते हैं चाँदी के हुक्के से तम्बाकू पीना, इसका ही नाम है गरम शाल ओढ़ना और रेशमी कपड़े पहनना। किन्तु इधर मन लगाया तो भगवान से मन हट जायेगा और संसार में मन लगकर राजसिकता और तामसिकता आ जायेगी। यह विचार आते ही उन्होंने हुक्का फेंक दिया, शाल फेंक दिया, इस प्रकार उन्होंने सोलह आने त्याग करके दिखाया। हम कम-से-कम एक आना तो करें। हम जब भोगेच्छा लेकर भोग करते हैं तो वह हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। किन्तु जब जीवन की आवश्यकता के लिये उनका उपयोग करते हैं, तो वह अलग बात हुई। भोजन का उपयोग और भोजन का भोग ये अलग-अलग बात है। जितना आवश्यक है उतना सुस्वाद भोजन लें, पर उसमें आसक्ति न रहे। प्रत्येक विषयों के भोग में राग और द्वेष न करें। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

राग-द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। २/६४

– इन्द्रियों को अपने वश में करके, राग-द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ साधक प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

भगवान कहते हैं कि इस संसार के भोगों में तुम्हारा राग और द्वेष न रहे। इससे छूट जाओ। इसलिये उपनिषद कहता है 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' – जीवित रहने के लिये जो आवश्यक है, वह करो। इन्द्रिय और मन को अपने वश में करके संसार का भोग करने से भी हमें सुख की प्राप्ति होगी। अपने चित्त् और इन्द्रियों को वश में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

त्याग का रहस्य क्या है? सन्तुलित जीवन बीताते हुये भोग करना ही त्याग है। किन्तु मन से सदैव जागृत रहो कि विषयों के प्रति आसक्ति न हो। भोग की वासना से प्रेरित होकर अगर भोग करेंगे तो संसार में फँस जायेंगे। इन्द्रियाँ लम्पट हो जायेंगी और हमारी प्रगति नहीं होगी। इससे अनासक्ति पूर्वक विषय-सेवन करने से चित्तशुद्धि हो जायेगी। ऐसा भगवान का आश्वासन है। अनासक्त होकर भोग करेंगे तो धीरे-धीरे भोगों की तीव्रता भी कम हो जायेगी। श्रीरामकृष्णदेव उदाहरण देते हैं – अगर चोट लग गयी, तो कुछ दिन बाद उसके उपर पपड़ी आ जायेगी और बाद में वह अपने आप गिर जायेगी। इसी प्रकार अगर हम विवेक पूर्वक भोग करेंगे तो धीरे-धीरे यह भोगेच्छा अपने आप समाप्त हो जायेगी। जैसे नारियल के पेड़ का पत्ता तो गिर जाता है, किन्तु उसका निशान रह जाता है। उसी प्रकार हम संसार का भोग तो करेंगे किन्तु बाद में मुक्ति के अधिकारी हो जायेंगे। इस मन्त्र ने हमें व्यावहारिक आध्यात्मिकता सिखा दी है। जिसके जीवन में नकारात्मक त्याग है, उससे जीवन नहीं बनता है। इस मन्त्र को जानकर यदि व्यक्ति इस प्रकार का त्याग करे – मैं यह नहीं खाता, वह नहीं पहनता, यह नहीं करता, तो ये सब नकारात्मक त्याग हैं। तुम क्या नहीं करते, इससे जीवन नहीं बनता है, तुम क्या करते हो, इससे जीवन बनता है। नकारात्मक त्याग का प्रयोजन है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से सकारात्मक त्याग अधिक आवश्यक है। परमात्मा के द्वारा दी हुई सम्पत्ति का सदुपयोग करें। कैसे सदुपयोग करें? अपनी आवश्यकता से अधिक जितनी सम्पत्ति हमारे पास है उससे प्रभु की सन्तानों की, दीन-दुखियों की सेवा करें। यदि हम सम्पत्ति से या और किसी वस्तु से सेवा करेंगे, तो हमारी कर्त्ताबुद्धि दूर हो जायेगी। ऐसी व्यवहारिक दृष्टि उपनिषद ने हमें दी है। ऐसा करने पर हम सम्पत्तिवान होकर भी सम्पत्ति के लोभ से मुक्त हो जायेंगे। जब तक मैं और मेरा करते रहेंगे, तब तक लोभ से जकड़े रहेंगे। किन्तु जब कहने लगेंगे कि प्रभु यह तुम्हारा है, तो लोभ छूट जायेगा और विवेक जागृत होगा। विवेक जागृत होने से अपने आप उस सम्पत्ति का सदुपयोग होने लगेगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑ ❑❑❑

मुम्बई होकर खेतड़ी-यात्रा

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

महेन्द्रनाथ के दो पत्र

इस दौरान महाराजा ने स्वामीजी के कोलकाता में स्थित परिवार से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा तथा उनके छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त के माध्यम से सारा समाचार लेते रहे और उन सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। इस काल में राजा को प्राप्त हुए दो पत्रों का अनुवाद इस प्रकार है –

"७, रामतनु बोस लेन, सिमला
२२ मार्च, १८९३

सेवा में,
महाराजा खेतड़ी, राजपुताना

महाराज का १० मार्च का कृपापत्र पाकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई और मैं उसके लिये अपना हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। महाराज हमारे विषय में अत्यधिक रुचि रखते हैं, जैसा कि आपके यह जानने की इच्छा से पता चलता है कि इस दौरान मैंने कौन-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। इस दौरान मैंने जो पुस्तकें पढ़ी हैं, उन सबका विवरण काफी लम्बा तथा उबाऊ होगा, परन्तु उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों का नाम भेजते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है – भगवद्-गीता, श्रीमद्-भागवत, कार्लायल का ......, बाबू केशवचन्द्र सेन के (भारत तथा इंग्लैंड में प्रदत्त) व्याख्यान, प्रिलग्रिमस प्राग्रेस जिसका मैं बँगला में अनुवाद कर रहा हूँ, ईसानुसरण, वैष्णव सम्प्रदाय के (चैतन्य-चरितामृत आदि) प्रमुख ग्रन्थ, ईसाई धर्मशास्त्रों में से यथोपलब्ध अनेक ग्रन्थ, इस विषय पर उपलब्ध श्रेष्ठ ग्रन्थ और अनेक दार्शनिक ग्रन्थ। सभी पुस्तकों का नाम देने के लिये एक तालिका की आवश्यकता होगी, क्योंकि मैं पुस्तकें बहुत जल्दी पढ़ लेता हूँ। तथापि मैं संक्षेप में कह सकता हूँ कि धर्मशास्त्र तथा दर्शन के अध्ययन में मुझे विशेष आनन्द आता है। मैंने अपने छोटे भाई को मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यूशन में बेजा है, जो नगर के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में एक है और वह भलीभाँति अध्ययन कर रहा है। हम सभी कुशलपूर्वक हैं। स्वामी शरत् चन्द्र जी और स्वामी रामकृष्णानन्द भी इस पत्र के माध्यम से अपनी शुभ कामनाएँ भेज रहे हैं।

एक चीज मैं भूल रहा हूँ, बाद में लिख रहा हूँ, जिसे मुझे पहले ही लिखना था और वह है कुमार के स्वास्थ्य के विषय में। मेरा विश्वास है कि अब तक वह वर्धित होकर एक उत्तम तथा सुन्दर युवराज में परिणत हो गया होगा। उसकी सरल तथा मधुर मुस्कुराहट सबके हृदय में महान् आनन्द-कण बिखेरती होगी। शिशु अब तक करीब दो माह का हो गया होगा। उसकी स्मृति से स्वाभाविक रूप से मन में जो सारे भाव उठते हैं, उन्हें अभिव्यक्ति देने के लिये मैंने कई पृष्ठ लिख डाले होते, परन्तु इससे पत्र काफी लम्बा हो जायेगा। परिवार के सभी लोगों को मेरा दण्डवत और बाकी लोगों को मेरी शुभ कामनाएँ। मेरा विश्वास है कि महाराज सुरक्षित रूप से खेतड़ी पहुँच गये होंगे। मैं सबके स्वास्थ्य के विषय में जानने को इच्छुक हूँ। पत्र का उत्तर पाने को मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ।

महाराज का
परम आज्ञाकारी सेवक
महेन्द्र नाथ दत्त

पुनश्च – मेरे भाई का समाचार मिला। इस समय वे मद्रास में वहाँ के उप-महालेखा-अधीक्षक (डिप्टी एकाउंटेंट जनरल) बाबू मन्मथनाथ भट्टाचार्य के घर निवास कर रहे हैं।

महेन्द्र न. दत्त"

"७ रामतनु बोस लेन, सिमला
११-४-१८९३

सेवा में,
महाराजा खेतड़ी, राजपुताना
महाराज,

काफी समय से खेतड़ी से कोई न आने के कारण हम लोग महाराज और शिशु के कल्याण तथा स्वास्थ्य के बारे में बड़े चिन्तित हैं, जिसके जन्म के समाचार ने हमें इतना आनन्द प्रदान किया था। जहाँ तक मुझे स्मरण है रेवाड़ी से (आपका) एक पत्र आया था, परन्तु वह एक माह से भी अधिक काल पूर्व १० मार्च को आया था। स्वामी योगानन्द तथा स्वामी शरत् चन्द्र (सारदानन्द) शिशु के बारे में जानने

को बहुत उत्सुक हैं और उसके लिये बहुत-सा आशीष भेज रहे हैं। ये दोनों विशुद्ध रूप से सन्त-चरित्र के तथा विद्वान् हैं और दोनों बड़े ही उल्लेखनीय परिवारों के हैं, इनमें से एक, एक बड़े जमींदार के तथा दूसरे एक धनाढ्य व्यक्ति की सन्तान हैं। दोनों ही कलकत्ते के हैं। महाराज की इच्छानुसार इन कुछ महीनों के दौरान अपने द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों की तालिका मैंने आपको भेज दी है। मेरा विश्वास है कि यदि पुस्तकें समय से मिल पातीं, तो मैं और भी अनेक पुस्तकें पढ़ लेता। **अपने भाई के बारे में मुझे कोई नया समाचार नहीं मिला है, केवल इतनी ही अपुष्ट सूचना मिली है कि वे मद्रास प्रेसीडेंसी में, सम्भवतः हैदराबाद में हैं।**

मठ के संन्यासी महाराज, शिशु कुमार तथा आपके परिवार के अन्य लोगों को अनेकानेक आशीर्वाद भेज रहे हैं और महाराज के कल्याण तथा समृद्धि के लिये ईश्वर को धन्यवाद देते हैं और 'दुनिया जितने की अपेक्षा करती है, प्रार्थना से उससे भी कहीं अधिक प्राप्ति होती है'।

हम सभी सकुशल हैं। आशा है महाराजा स्वस्थ और समृद्ध होंगे।

महाराज का परम आज्ञाकारी सेवक
महेन्द्रनाथ दत्त''[१]

मुम्बई में गुरुभाइयों से भेंट

सम्भवत: अप्रैल (१८९३) के द्वितीय सप्ताह में स्वामीजी खेतड़ी-नरेश के सचिव मुंशी जगमोहन लाल के साथ अपने प्रिय शिष्य से मिलने मद्रास से खेतड़ी की ओर रवाना हुए।

इस लम्बी यात्रा के दौरान मार्ग में कुछ दिनों के लिए वे मुम्बई में भी ठहरे। उनके इस बार मुम्बई में ठहरने का एक कारण और था – उनके मद्रास के शिष्यों ने जो धनराशि एकत्र की थी, उसके द्वारा उन्हें वे मुम्बई से अमेरिका जाने का टिकट भी खरीदना था। इस बार वे कहाँ ठहरे? अद्वैत आश्रम से प्रकाशित स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी (खण्ड १, सं. १९९५, पृ. ३८५) के अनुसार पहले वे एक पण्डित के घर पर ठहरे थे। ये पण्डित महामहोपाध्याय राजाराम शास्त्री बोडस ही रहे होंगे, जिनके साथ वे कोई आठ महीने पूर्व शास्त्र-अध्ययन कर चुके थे।[२]

१. 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द', पं. झाबरमल्ल शर्मा तथा श्याम सुन्दर शर्मा, दिल्ली, खण्ड दो, सं. १९९१, पृ. ११९-२१; तथा Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shankar Sharma, Second Edition 1982, p. 170-73

२. द्र. – स्वामीजी का महाराष्ट्र-भ्रमण, नागपुर, २००३, पृ. ९१-३। एक अन्य सम्भावना इस प्रकार है – श्री गुरुदास गुप्त द्वारा लिपिबद्ध स्वामी तुरीयानन्द जी की स्मृतिकथा के अनुसार इस घटना के समय स्वामीजी मुम्बई के एक बैरिस्टर के मकान में ठहरे थे। (बँगला ग्रन्थ 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी', सं. १९९०, पृ. १)।

इधर स्वामीजी के दो अन्य गुरुभ्राता स्वामी ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द काँगड़ा, पठानकोट, गुजराँवाला, लाहौर आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए कराची और वहाँ से जलयान द्वारा मुम्बई पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के गृही शिष्य श्री कालीपद घोष कागज-व्यवसायी जॉन डिकिंसन कंपनी के प्रतिनिधि के रूप में मुम्बई में ही निवास करते थे। दोनों गुरुभाई उनके परेल रोड स्थित मकान पर गये। वहाँ उन्हें पता चला कि स्वामीजी भी मुम्बई में ही हैं और एक सुप्रसिद्ध पण्डित के घर ठहरे हुए हैं। तुरीयानन्दजी की जीवनी[३] के अनुसार – एक दिन दोनों गुरुभ्राता स्वामीजी से मिलने वहीं जा पहुँचे। स्वामीजी एक साधारण-सा हुक्का लिए धुम्रपान कर रहे थे। गुरुभ्राताओं को देखकर वे हाथ में हुक्का लिए ही दौड़ते हुए उनके पास आये और दिल खोलकर बातें करने लगे। उस समय उनके ओठों पर यह श्लोक था –

अभिमानं सुरापानं गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा तस्मात् एतत्त्रयं त्यजेत्।।

– ''अहंकार सुरापान के समान है, गौरव की कामना रौरव-नरक में निवास के सदृश है, प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा जैसी घृणित है और अत: इन तीनों का परित्याग कर दो।''

श्लोक सुनकर तुरीयानन्दजी को यह निश्चित धारणा हुई कि स्वामीजी इन तीनों दोषों से मुक्त हो चुके हैं। कुछ देर बाद उन्होंने कहा – ''हरि भाई, अब इस घर में और नहीं रहूँगा। यहाँ के लोग तुम लोगों को उतनी श्रद्धा से नहीं देख सकेंगे। ये उपाधिधारी बड़े पण्डित हैं। चलो, अमुक के घर चलें, वह हम सबको बड़े प्रेम से रखेगा।'' इसके बाद तीनों गुरुभाई एक साथ कालीपद घोष के घर चले गये। वहाँ उन्होंने एक साथ रहते हुए कई दिन परम आह्लादपूर्वक बिताए। कालीपद बाबू ने एक दिन अपने गुरुभाइयों को घोड़ेगाड़ी में बिठाकर नगर का परिदर्शन भी कराया था।

स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी तथा स्वामी तुरीयानन्द जी की बँगला जीवनी से प्राप्त उपरोक्त विवरण से लगता है कि इस बार स्वामीजी पहले तो महाराष्ट्रीय पण्डित के पास ठहरे थे और बाद में बाबू कालीपद घोष के घर पर चले गए। पर यहाँ स्मरणीय है कि इस यात्रा में स्वामीजी के साथ मद्रास से मुंशी जगमोहन लाल तथा उनके कुछ सहायक भी साथ आए थे। अत: इस प्रकार कुल मिलाकर इन सबकी संख्या कम-से-कम छह हो गई थी और इतने लोगों के लिए एक स्थान पर ठहरना कठिन था। सम्भव है मुंशी जगमोहन लाल अपने सहयोगियों के साथ कहीं अन्यत्र ठहरे हों।

स्वामी तुरीयानन्द के संस्मरण

स्वामीजी के इस मुम्बई-निवास के दौरान प्रतिदिन संध्या

३. जीवनमुक्त तुरीयानन्द, जगदीश्वरानन्द, नागपुर, २००४, पृ. २७

के समय बहुत से लोगों का उनके पास समागम हुआ करता था। स्वामीजी भी समागत लोगों के साथ धर्मचर्चा किया करते थे। एक दिन अस्वस्थता के कारण वे तुरीयानन्दजी से बोले, "आज मेरी तबीयत अच्छी नहीं है, तुम्हीं इन लोगों को कुछ बताओ। मैं लेटे लेटे सुनूँगा।" तुरीयानन्दजी इच्छा न होने पर भी गुरुभाई का सप्रेम आग्रह नहीं टाल सके और बाध्य होकर उपस्थित लोगों के समक्ष उन्होंने धर्मचर्चा की। बोलते-बोलते भाव के तरंग में वे त्याग-वैराग्य विषयक बहुत-सी बातें कह गये। प्रवचन सुनकर लोगों के चले जाने के बाद स्वामीजी ने उनसे कहा, "इन संसारासक्त लोगों को तुमने इतने कठोर त्याग एवं तीव्र वैराग्य की बातें क्यों सुनाई? तुम भले ही तपस्वी संन्यासी हो, पर सुननेवाले तो सब गृहस्थ थे। उन्हीं के उपयुक्त तुम्हें कुछ बोलना चाहिए था। तुम्हारी बातें सुनकर ये लोग विचलित हो जाएँगे। लोग जो समझ-बूझ पाते, वही बोलना अच्छा होता।" इस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें हल्की-सी झिड़की दी और इस पर तुरीयानन्दजी हँसते हुए बोले, "मुझे लगा कि चूँकि तुम भी सुन रहे हो, इसलिए जो सो बोलना नहीं चलेगा। अच्छा बोलने के प्रयास में ही ऐसी गड़बड़ी हो गई।"

मुम्बई में स्वामी तुरीयानन्द जी ने स्वामीजी में क्या देखा – इस विषय में श्री महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं – "परवर्ती काल में हरि महाराज ने हम लोगों को बताया था – मुम्बई अंचल में कहीं नरेन्द्रनाथ के साथ हमारी भेंट हुई। देखा – उनका कण्ठ-स्वर, मुख-भंगिमा – सब कुछ बदल चुका है; वे अहंकार तथा मान-यश के बन्धन से मुक्त हो चुके हैं। बिल्कुल ही अलग व्यक्ति हैं।" नरेन्द्रनाथ तुरीयानन्दजी से बोले – 'देख हरिभाई, धर्म-कर्म तो कुछ समझ नहीं सका, भगवान को भी नहीं पा सका, परन्तु कुछ तो जरूर हुआ है, हृदय के प्रेमभाव में काफी वृद्धि हो गयी है। जगत् को प्रेम देने की इच्छा होती है; और कुछ तो समझ नहीं पाता।'

"चारुचन्द्र नामक एक व्यक्ति हरि महाराज के बड़े अनुरागी थे। बीच-बीच में वे हरि महाराज के पास जाया करते थे। चारुबाबू ने एक घटना हम लोगों को बतायी थी – 'एक बार हरि महाराज की मुम्बई अंचल में (उनसे) कहीं भेंट हुई। नरेन्द्रनाथ (स्वामीजी) एक उद्यान में एक वृक्ष के नीचे कुछ पुस्तकों पर सिर रखे बाँयीं करवट धरती पर लेटे हुए थे। हरि महाराज वहाँ पहुँचकर उनसे विविध विषयों पर बातें करने लगे। नरेन्द्रनाथ बोले, "भगवान को तो देख नहीं सका। बहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं, कुछ भी तो नहीं मिला, परन्तु हृदय में कुछ तो जरूर हुआ है। वहीं मुझे घुमाने का प्रयास कर रहा है, मुझे अस्थिर किये हुए है।" चारुबाबू ने हरि महाराज से जैसा सुना था, (तुरीयानन्दजी) आगे बताने लगे, 'कितने आश्चर्य की बात है! देखा – मानो साक्षात् शिव होकर लेटे हुए हैं और मुख से कह रहे हैं – भगवान का दर्शन नहीं हुआ, धर्म-कर्म कुछ समझ नहीं सका। दीन-दुखियों के दु:ख-कष्ट की पीड़ा ने ही उन्हें उन्मत्त कर रखा था।' हरि महाराज ठीक इसी प्रकार कहने लगे – 'शिव क्या भला शिव को देख सकते हैं! शिव शिव ही होते हैं।' "[४]

अमेरिका के लिये टिकट-आरक्षण व यात्रा-व्यय

स्वामीजी के इस बार मुम्बई आने तथा ठहरने का मूल उद्देश्य था अमेरिका के लिये अपना टिकट आरक्षित कराना। प्रश्न उठता है कि इस टिकट के लिये धन कहाँ से आया? अर्थात् इस यात्रा के लिये व्यय-भार किसने वहन किया था? इस विषय में कई तरह की भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं और कहीं-कहीं आलासिंगा तथा उनके मित्रों के कमरतोड़ परिश्रम की अनदेखी कर सारे धन की व्यवस्था का श्रेय जबरन खेतड़ी-नरेश पर डाल दिया गया है।[५] प्रारम्भ में सम्भवत: ऐसी ही धारणा थी, परन्तु बाद में पूरा विवरण मिलने पर पता चला कि वास्तविकता ऐसी नहीं है।

इस विषय में स्पष्टीकरण हेतु स्वामीजी की अपनी उक्तियाँ ही प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा। २७ अप्रैल १८९३ को उन्होंने डॉ. नंजुन्दा राव के नाम अपने पत्र में लिखा था – "मद्रास से जहाज पर सवार होने के प्रस्ताव के बारे में मेरा कहना यह है कि अब यह बन्दोबस्त नहीं हो सकता, क्योंकि मैंने पहले ही मुम्बई से जाने की व्यवस्था कर ली है। ... दो-एक सप्ताह के अन्दर ही मैं मुम्बई रवाना हो रहा हूँ।"[६] इसके शीघ्र बाद मई के पहले सप्ताह में वे हरिदास बिहारी दास देसाई को लिखते हैं – "आपको याद होगा कि पहले से ही मेरी शिकागो जाने की इच्छा थी। जब मैं मद्रास में था, वहाँ की जनता ने स्वयं ही मैसूर तथा रामनाद के राजाओं के सहयोग से मुझे भेजने का सारा प्रबन्ध कर दिया था।"[७]

२४ अगस्त १९०२ के दिन कोल्हापुर में आयोजित विवेकानन्द-स्मृति-सभा में प्रदत्त तथा मराठी मासिक 'ग्रंथमाला के अगस्त १९०२ अंक में प्रकाशित अपने व्याख्यान में मुम्बई के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता श्रीनिवास अयंगार सेटलूर ने कहा था – "शिकागो मेले के समय धर्म-महासभा का आयोजन हुआ था। ... उस समय मद्रास में रहनेवाले कुछ मैसूरी तरुण विद्यार्थियों ने स्वामीजी से कहा कि हम चन्दा एकत्र करते हैं। १० रुपये प्रतिमाह देनेवाली ३० लोगों की टोली तैयार हुई। इस प्रकार स्वामीजी मद्रास से विदा हुए।"

४. विश्वपथिक विवेकानन्द, बँगला, पृ. १९७-९८

५. यथा – स्वामी विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, कोलकाता, प्रथम संस्करण, पृ. ३४६; वेणीशंकर शर्मा आदि। गम्भीरानन्द जी ने अपने 'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ में (खण्ड १, सं. १९९८, पृ. ३५८-६२ में इस भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास किया है।

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, प्र.सं., पृ. ३८७; ७. वही, ३९२

उपरोक्त तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी ने अमेरिका जाने के लिये यात्रा-व्यय की व्यवस्था हो जाने के बाद ही मद्रास से खेतड़ी की ओर प्रस्थान किया था। आगे उद्धृत किये जानेवाले मुंशी जगमोहन लाल को लिखे राजा अजीतसिंह ने अपने पत्र में इस बात का उल्लेख किया था। इधर आलासिंगा आदि मद्रास में धन-संग्रह का कार्य जारी रखकर स्वामीजी को बीच-बीच में पत्र तथा टेलीग्राम द्वारा खेतड़ी में सूचना दे रहे थे, इसीलिये स्वामीजी ने जूनागढ़ के दीवान हरिदास विहारीदास देसाई को लिखा कि मद्रास में धन की व्यवस्था हो चुकी थी अर्थात् वचन मिलने के बाद भौतिक रूप से उसके संकलन का कार्य चल रहा था।

आलासिंगा तथा उनके मद्रास के मित्रों ने कुल मिलाकर करीब ४००० रुपये एकत्र किये थे। स्वामीजी ने १८९३ ई. के २० अगस्त को आलासिंगा को लिखा था, "तुमने मुझे १७० पौंड के नोट और ९ पौंड नगद दिये थे।" अर्थात् ये रुपये उन्होंने मद्रास से लाकर स्वामीजी को मुम्बई से अमेरिका के लिये विदा करते समय भावी खर्च के लिये उन्हें दिये थे। यह १७९ पौंड (प्रति पौंड का तत्कालीन दर १५ रुपये था) करीब २,६८५ रुपये के बराबर हुआ। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मद्रास से विदा होते समय टिकट खरीदने के लिये स्वामीजी को आलासिंगा से लगभग डेढ़ हजार रुपये प्राप्त हुए थे और बाकी रुपये आलासिंगा ने मुम्बई आकर दिये थे। लगता है स्वामीजी ने मद्रास में रहते समय पता लगा लिया था कि टिकट के लिये कितने रुपये लगेंगे और उतना एकत्र होते ही मुम्बई की ओर चल पड़े थे।

इसलिये अन्ततः खेतड़ी के राजा से यात्रा के लिये कोई नगद धनराशि लेने की जरूरत ही नहीं हुई थी। वैसे उनकी ओर से यात्रा के लिये आवश्यक चीजें खरीदी गयी थीं और टिकट को साधारण से उच्च – केबिन-श्रेणी का करा लिया गया था। गम्भीरानन्द जी बताते हैं कि उन्होंने बहुत पहले बेलूड़ मठ के पुराने साधुओं के मुख से सुना था कि पहले आलासिंगा द्वारा एकत्र रुपयों से द्वितीय श्रेणी का टिकट खरीदा गया था, जगमोहन ने राजगुरु के सम्मानार्थ, खेतड़ी-राजा की ओर से अतिरिक्त रुपये खर्च करके उसे प्रथम श्रेणी से बदलवा दिया। यही ठीक प्रतीत होता है।

ट्रेन में गुरुभाइयों के साथ

मुम्बई में कुछ दिन बिताने और अपनी अमेरिका-यात्रा के लिए जलयान का टिकट आरक्षित कराने के बाद स्वामीजी मुंशी जगमोहनलाल तथा गुरुभाइयों के साथ खेतड़ी की ओर चल पड़े। आबू रोड़ स्टेशन तक सब एक साथ ही गये।

ट्रेन से आबूरोड जाते समय उनके बीच जो बातें हुई थीं, उनके विषय में स्वामी तुरीयानन्द ने कहा था – "अमेरिका जाने के पूर्व स्वामीजी का तेजस्वी मुखमण्डल देखकर लगा था कि वे अपनी साधना पूरी कर चुके हैं और विश्व में अपने गुरुदेव का सन्देश प्रचारित करने जा रहे हैं।"[७] एक अन्य समय उन्होंने बताया – "स्वामीजी जब पहली बार अमेरिका गये, तब मैं उनके साथ मुम्बई के मार्ग पर कुछ दूर (आबूरोड) तक गया था। ट्रेन से जाते समय उन्होंने मुझे गम्भीर भाव से कहा, 'मेरा मन कह रहा है कि अमेरिका में जो तैयारियाँ हो रही हैं, वह सब (अपनी ओर दिखाते हुए) इसी के लिए है। तुम शीघ्र ही देख सकोगे।'"

उन्होंने यह भी बताया था – "स्वामीजी में सभी प्रकार के लोगों के साथ मिलने की अद्भुत क्षमता थी। परिव्रज्या के दिनों में एक बार हम दोनों रेल में जा रहे थे। तृतीय श्रेणी के डिब्बे में स्वामीजी घोड़ों के कुछ सईसों के साथ विभिन्न प्रकार की चर्चा में निमग्न हो गए। मैंने पूछा, 'क्या बातचीत हो रही थी?' बोले, 'ये लोग बहुत-सी बातें जानते हैं। घुड़दौड़ के घोड़ों की किस प्रकार देखभाल करनी पड़ती है, किन नियमों के अन्तर्गत उनका व्यायाम, मालिश आदि की जाती है, आदि सब बातें मैंने सुन लीं। खूब आनन्द आया। सभी के पास सीखने योग्य कुछ रहता है।'"[८]

आबूरोड स्टेशन आने पर स्वामी ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द वहाँ उतरकर तपस्या करने हेतु आबू पर्वत पर चले गये। बाद में वृन्दावन से दोनों गुरुभाइयों ने संयुक्त रूप से एक पत्र में अद्वैतानन्द जी को लिखा था – "मुम्बई में रहते समय हम लोग नरेन्द्रनाथ से मिलकर बड़े आह्लादित हुए थे। बाद में वे स्वयं हम लोगों को आबू पहाड़ पर रखने की व्यवस्था कर गये थे।"[९] माउंट आबू में राजा की नई कोठी विद्यमान थी और खाली पड़ी थी। ऐसा लगता है कि जगमोहन लाल ने पहले से पत्र या तार द्वारा सूचना देकर वहाँ के व्यवस्थापक को आबूरोड स्टेशन पर बुला लिया होगा और दोनों गुरुभाइयों के लिये उचित व्यवस्था करने का निर्देश देकर जयपुर तथा खेतड़ी की ओर आगे निकल गये होंगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

७. जीवन्मुक्त तुरीयानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द, नागपुर, पृ. ४२
८. अध्यात्म-मार्ग-प्रदीप, पृ. १३४, १७७ तथा 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' (बँगला ग्रन्थ), सं. १९९०, पृ. ४, ६
९. उद्बोधन मासिक, वर्ष ६८, अंक २, फाल्गुन १३७२, पृ. ६३
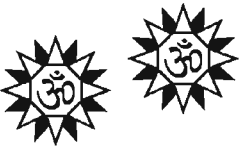
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (१)
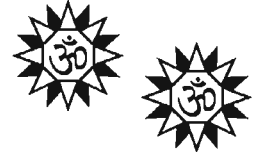
के. सुन्दरराम अय्यर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

सर्वप्रथम मैं पचियप्पा कॉलेज से संलग्न हाई स्कूल के प्राचार्य श्री एम. सी. आलासिंगा पेरुमल के नाम का उल्लेख करना चाहूँगा। १८९२ ई. के दिसम्बर में कन्याकुमारी तथा रामेश्वरम् की यात्रा करने के बाद स्वामीजी जब पहली बार चेन्नै आये, तभी आलासिंगा अपने सश्रद्ध प्रेम तथा चिर-उत्साह के साथ स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा उनके विश्व के धर्मोद्धार के कार्य के प्रत्येक पर्व तथा पहलू के साथ जुड़ गये। महान् गुरु के प्रति उनका यह लगाव तथा सेवाभाव, मुझे सर्वदा सुन्दरता की एक ज्योति प्रतीत होती है और मेरे हृदय में निराशा के अनेक अन्धकारमय क्षणों में सांत्वना तथा आनन्द लाती रही है। मेरे लिये यह एक बहुत बड़ी खोज थी कि हमारा पतित हिन्दू समाज अब भी एक ऐसे पवित्र तथा परिपूर्ण स्वभाव का व्यक्ति पैदा कर सकता है, जो स्वामीजी के समान ईश्वर-प्रेरित महापुरुष के प्रति ऐसे सम्मान तथा सौम्य प्रीति का भाव रखता हो। कम-से-कम भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप में तो मैंने उनके जैसा कोई व्यक्ति नहीं देखा। स्वामीजी के आदेश, निर्देश या सलाह पर दक्षिण भारत में जितने भी प्रकार के सत्कार्य हुए, वे उन सभी के प्राण तथा आत्म-स्वरूप थे।

हम लोग उन्हें 'अचिंगा' नाम से सम्बोधित करते थे। स्वामीजी के चेन्नै में अभिनन्दन-समारोह को सफल बनाने के विषय में वे सर्वदा सजग रहकर कठोर परिश्रम करते रहे और उसके लिये जो कुछ आवश्यक था, वह सब किया। उन्होंने सबसे पहले एक तरह की स्वागत-समिति का गठन किया, जो औपचारिक नहीं, पर उपयोगी थी। डॉ. सुब्रह्मण्य अय्यर की अध्यक्षता में गठित इस समिति के अन्य सदस्य थे – श्री वी. कृष्णस्वामी अय्यर, पी.आर. सुन्दर अय्यर, सी. नंजुंदा राव, वी.सी शेषाचारी, कर्नल आल्काट, शिकागो के डॉ. बैरोज (जो ईसाई धर्म पर कुछ व्याख्यान देने आये थे) आदि। कमेटी ने नगर में सर्वत्र वितरण हेतु दो-तीन पर्चे छपवाये। इसमें मुख्यत: अमेरिका तथा इंग्लैंड के प्रमुख विचारकों द्वारा उनके बारे में व्यक्त अभिमतों से चुने हुए उद्धरण थे और इसका उद्देश्य था कि जनता को स्वामीजी के पश्चिम में धर्म-प्रचार के स्थायी कार्य की कुछ झलकियाँ प्रदान करना।

उन लोगों ने एगमोर रेलवे स्टेशन से कैसल कर्नन तक अनेक तोरण द्वार बनवाने और नगर के सभी भागों में स्वामीजी के आने की सूचना देनेवाले बड़े-बड़े पोस्टर लगवाने की व्यवस्था की। स्वामीजी की कोलम्बो से रामेश्वरम्, रामनाद तथा शिवगंगा से मदुरै, त्रिचनापल्ली तथा कुम्भकोणम् तक की यात्रा के दौरान उन्हें प्राप्त हुए हार्दिक अभिनन्दन के समाचार प्रतिदिन आकर समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रहे थे, जिसके फलस्वरूप पहले से ही सर्वत्र लोगों में रुचि पैदा हो गयी थी। यहाँ तक कि बीच में पड़नेवाले छोटे-मोटे अमहत्त्वपूर्ण ग्रामीण स्टेशनों पर भी लोग इन महापुरुष की एक झलक पाने को दल-के-दल एकत्र हो गये थे।

प्राचीन भारतीय ऋषियों के इन अभिनव तथा विश्व को हिला देनेवाले संदेशवाहक स्वामीजी से मिलने अथवा उनके दर्शन का असीम सौभाग्य पाने हेतु लोग बड़ी संख्या में दूर-दूर से चेन्नै आये हुए थे। विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये आये हुए बहुत-से युवक स्वामीजी की झलक पाने, उनकी वाणी सुनने तथा स्वदेशवासियों के प्रति उनके सन्देश से परिचित होने के लिये वहीं ठहरे रहे। वस्तुत: हर आयु, हर वर्ग तथा हर सम्प्रदाय के हर व्यक्ति को ऐसा महसूस हो रहा था कि स्वामीजी ने अपनी मातृभूमि की जैसी स्थायी सेवा की है, वैसा वर्तमान तथा भूतकाल के इसके किसी भी आचार्य या गुरु ने नहीं किया – वे लोग यह भी महसूस कर रहे थे कि स्वामीजी न केवल एक सच्चे सन्त तथा पाश्चात्य सभ्यता के लिये भारत के धर्मदूत हैं, अपितु एक ऐसे देशभक्त हैं, जिन्होंने सभ्य जगत् की दृष्टि में अपने देश तथा देशवाशियों के मान में वृद्धि की है। सर्वत्र ही स्वामीजी का व्यक्तित्व, उनका कार्य तथा उनकी उपलब्धियाँ सबकी अभिरुचि तथा चर्चा का केन्द्र बन गयी थीं और सभी लोग परम उत्सुकता तथा तीव्र आशा के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। 'दि हिन्दू' दैनिक ने अपने सम्पादकीय में बड़े उत्साहपूर्वक स्वामीजी के पश्चिमी कार्य की प्रशंसा की थी और लेख के अन्त में प्रज्वलन्त तथा आवेगपूर्ण उद्गार व्यक्त किये थे। वस्तुत: मुझे अब भी स्पष्ट रूप से याद है कि कैसे उसके

अनेक शिक्षित पाठकों ने उसके अन्तिम वाक्यों को उद्धृत करते हुए यह प्रश्न उठाया था कि ऐसा कौन होगा, जो मानवता के लिये स्वामीजी के इस महान् कार्य में जुड़ना तथा इसे हर तरह से यथासम्भव आगे बढ़ाना नहीं चाहेगा !

स्वामीजी के दो उत्साही पाश्चात्य शिष्य श्री तथा श्रीमती सेवियर, स्वामीजी के एक सिंहली प्रशंसक तथा मित्र बौद्ध मतावलम्बी श्री हैरिसन के साथ स्वामीजी के आगमन के पूर्ववर्ती दिन सुबह चेन्नै पहुँचे। उन्हें रेलवे स्टेशन से लाकर कैसल कर्नन में ठहराया गया। उसी दिन शाम को उनके लिये एक सार्वजनिक सत्कार का आयोजन किया गया था, जिसमें अन्य लोगों के अलावा कर्नल ऑल्काट भी उपस्थित थे। कर्नल ऑल्काट ने मुझे जो कुछ बताया, उससे मुझे लगा कि वे स्वामीजी के एक घनिष्ठ मित्र तथा सच्चे प्रशंसक हैं। एक बार मैंने 'थियॉसाफिस्ट' पत्रिका में पढ़ा भी था कि स्वामीजी दिसम्बर १८९२ ई. में अपने पिछले चेन्नै-आगमन के समय उनके अड्यार स्थित मुख्यालय में गये थे और वहाँ कर्नल तथा सहयोगियों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत हुआ था। अत: अगले दिन स्वामीजी के आने के बाद उनके पहले प्रथम चेन्नै-व्याख्यान में थियॉसाफिकल सोसायटी के विरुद्ध उनका आक्षेप सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया, क्योंकि यह पूरी तौर से उनके स्वभाव के विपरीत था; परन्तु इस विषय में यथास्थान विस्तार से कहा जायेगा। कैसल कर्नन में स्वामीजी के साक्षात्कारों तथा सभाओं के लिये जो शामियाना लगाया गया था, उसके एक किनारे बने अस्थायी मंच के फर्श पर हम सभी लोग बैठे हुए थे। श्रीमती सेवियर स्वामीजी के लंदन-प्रवास तथा श्री स्टर्डी के मकान में हुए उनके एक व्याख्यान के विषय में कुछ कह रही थीं। कर्नल ऑल्काट ने तत्काल श्रीमती बेसेंट का उदाहरण दिया और जबकि हम लोग फर्श पर बैठे रहे, उन्होंने श्रीमती सेवियर से कुर्सी पर बैठने तथा यह बताने का अनुरोध किया कि वे किस प्रकार स्वामीजी के विषय में अवगत हुई और उनकी शिष्या बनीं। श्रीमती सेवियर ने तत्काल उत्तर दिया कि वे श्रीमती बेसेंट नहीं हैं; और बताया कि जहाँ श्रीमती बेसेंट एक वक्ता तथा विद्वान् हैं और उनके मुख से जो कुछ भी निकलता है, उसके द्वारा हर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित कर सकती है, परन्तु वे स्वयं (श्रीमती सेवियर) एक साधारण महिला हैं और वे ऐसा कुछ नहीं बोल सकतीं, जो हम लोगों को विशेष रुचिकर या महत्त्वपूर्ण लगे। कर्नल ऑल्काट इस पर विस्मित तथा मौन रह गये। आगन्तुकों के साथ परिचित हो जाने के बाद वहाँ एकत्र सभी लोग कुछ समय तक वहाँ रहने के बाद धीरे-धीरे लौटने लगे।

अगला दिन, दीर्घ काल से उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षित स्वामीजी के आगमन का दिवस था। सुबह से ही बहुत बड़ी संख्या में लोग सड़क से होकर रेलवे स्टेशन की ओर चले जा रहे थे और स्वामीजी जब कैसल कर्नन जाने के लिये उस सड़क से होकर गुजरेंगे, उस समय उनकी एक झलक पाने को वहाँ एकत्र हो प्रतीक्षा कर रहे थे। स्टेशन के बाहर तथा भीतर लोगों के सिरों तथा चेहरों का मानो समुद्र ही उमड़ पड़ा था। पिछली रात मेरे पड़ोसी श्री आर.वी. श्रीनिवास अय्यर मेरे पास आये और मुझे अपनी गाड़ी में अपने साथ एगमोर स्टेशन चलने को कहा। कुम्भकोणम् कॉलेज में हम दोनों एक साथ ही शिक्षक के रूप में कार्य करते थे और इस कारण मैं पिछले कई वर्षों से उनके साथ परिचित था। उसके बाद जब वे स्थानान्तरित होकर राजस्व विभाग में चले आये, तब भी उनसे प्राय: मिलता रहता था। यद्यपि वे पाश्चात्य दर्शन का विशेष रुचिपूर्वक अध्ययन करते थे, तथापि उन्हें कभी धार्मिक समस्याओं या व्यक्तियों में अधिक आकर्षण का बोध नहीं हुआ था। अत: चेन्नै नगर द्वारा स्वामीजी को दिये जानेवाले स्वागत में उनके भाग लेने का प्रस्ताव मेरे लिये एक सुखद आश्चर्य था। मार्ग में उन्होंने बताया कि वे एक भारतीय आचार्य तथा हमारे प्राचीन धर्म के प्रचारक के रूप में महिमा प्राप्त करने के बाद स्वामीजी कैसे लगते हैं, यह देखने को बड़े उत्सुक हैं।

गाड़ी लेट थी। आखिरकार वहाँ एकत्र तथा प्रतीक्षारत सभी लोगों के हृदय में महान् आनन्द का संचार करती हुई गाड़ी आ पहुँची। स्वामीजी अपने दो गुरुभाइयों तथा एक अन्य शिष्य के साथ ट्रेन से उतरे। यह उत्तर भारतीय रेलवे में कहीं स्टेशन मास्टर रहते हुए उनकी ओर आकृष्ट हुआ था। ये लोग उनसे मिलने और उनके यूरोपियन वेशभूषा की जगह पहनने के लिये एक नया गैरिक वस्त्र लेकर कोलम्बो गये थे। स्वामीजी के साथ श्री गुडविन भी थे। इन अंग्रेज सज्जन को अमेरिका में उनके व्याख्यानों को शार्ट हैंड में लिपिबद्ध करने के लिये काम पर लगाया गया था, परन्तु ये स्वामीजी के शिष्य बन गये और अपने कार्य के लिये कोई पारिश्रमिक लेने से मना कर दिया। अब ये अपने पूरे जीवन भर के लिये स्वामीजी के साथ जुड़ गये हैं। उन्हें भारतीय वेशभूषा में देखकर हमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। रेलवे स्टेशन पर उनका कुछ लोगों से परिचय कराया गया। पहली बार चेन्नै आने के पूर्व, दिसम्बर १८९२ ई. में जब वे त्रिवेन्द्रम आये थे, मैं उन्हें तभी से जानता था और चूँकि उस समय हम लोग बड़े उन्मुक्त तथा घनिष्ठ भाव से एक-दूसरे से मिले-जुले थे और चर्चाएँ की थीं, अत: मैं स्वामीजी से तत्काल मिलने को आतुर था, परन्तु केवल कुछ गणमान्य लोगों के अतिरिक्त बाकी लोगों के लिये स्टेशन पर उनके दर्शन कर पाना केवल भाग्य पर ही निर्भर करता था। तथापि उनके गाड़ी में बैठने तथा शोभायात्रा के आरम्भ होने के पूर्व, मैं उनसे मिलने और कुछ बातें करने हेतु जैसे भी हो सका, रास्ता बनाता हुआ, स्वामीजी जहाँ खड़े थे, वहाँ जा पहुँचा। मैंने स्वामीजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और

पूछा कि क्या वे मुझे अब भी पहचान सकते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि वे कभी किसी का चेहरा नहीं भूलते और त्रिवेन्द्रम् में मेरे घर में निवास करने की बात का उल्लेख किया। उसी समय डॉ. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने उनके समक्ष मेरे नाम का उल्लेख किया। कुम्भकोणम् से मेरे पुराने मित्र तथा वहाँ के कॉलेज के सह-प्राध्यापक प्रोफेसर एम. रंगाचार्य भी स्वामीजी के साथ आये थे। हम दोनों जुलूस के पीछे-पीछे एक साथ कैसल कर्नन तक गये। जाते समय हमने देखा कि समुद्र-तट पर कुछ छात्रों ने हठ किया कि घोड़ों को खोल दिया जाय और कुछ दूर तक वे स्वयं गाड़ी को खींचकर ले जायेंगे। घोड़ों को खोलकर युवकों द्वारा गाड़ी खींचने का विचार हमारे भारतीय विचारों तथा अभिरुचि की दृष्टि से थोड़ा भद्दा प्रतीत होता था। बाद में मैंने स्वयं स्वामीजी के समक्ष ही इस बात का उल्लेख किया और लगा कि उन्हें भी यह बात बहुत रुचिकर नहीं लगी है। उन्होंने मुझे बताया कि वे इस प्रस्ताव को रखने तथा क्रियान्वित करनेवाले छात्रों को पहले ही यह बात कह चुके हैं।

स्वामीजी जब कुम्भकोणम् से यात्रा कर रहे थे, तो चिंगलपेट रेलवे स्टेशन पर 'मद्रास-मेल'* का एक पत्रकार उनका साक्षात्कार लेने के लिये ट्रेन में सवार हुआ। प्रश्नोत्तर के रूप में वह साक्षात्कार उस दिन शाम को उस समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। उसमें स्वामीजी के अमेरिकी कार्य के विषय में विचारों तथा भारत के लिये उनकी भावी योजनाओं का अत्यन्त रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया था। बाद में श्री रंगाचार्य ने मुझे बताया कि वे प्रश्न पत्रकार के माध्यम से उन्होंने स्वयं रखे थे और स्वामीजी ने सहज भाव से उनके संक्षिप्त तथा स्पष्ट उत्तर दिये थे। मद्रास-मेल के संवाददाता को केवल उन्हें द्रुतलेखन में लिपिबद्ध मात्र करना पड़ा था। काल के इस सुदीर्घ अन्तराल के बाद मुझे इतना ही याद है कि स्वामीजी ने कहा था – अमेरिकी लोग व्यवसाय तथा धन कमाने में तल्लीन हैं और इस कारण वहाँ की महिलाएँ ही वहाँ का सारा कार्य चलाती हैं और अपने मानसिक तथा सांस्कृतिक स्तर को सुधारने के लिये प्रत्येक अवसर का लाभ उठाती हैं। अधिकांशतः ये महिलाएँ ही उनकी कक्षाओं तथा व्याख्यानों में उपस्थित रहा करती थीं। स्वामीजी को आशा थी कि उनका परिश्रम अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैंड में कहीं अधिक फलदायी होगा; क्योंकि यद्यपि अंग्रेज लोग थोड़ी मोटी बुद्धि के हैं और इस कारण उन्हें नये विचार ग्रहण करने में थोड़ा समय लगता है, परन्तु एक बार जब उन्हें किसी बात पर विश्वास हो जाता है, तो उसे कार्य रूप में परिणत करने से कभी पीछे नहीं हटते।

स्वामीजी कैसल कर्नन में पहुँच कर अपने कई गुरुभाइयों से मिले और उनके साथ घनिष्ठ भाव से बातचीत में डूब गये। जिस किसी को भी यह दृश्य देखने का सौभाग्य मिला, वह उनके परस्पर सीधे-सादे आचरण, हार्दिक अभिवादन तथा सहज अकृत्रिम व्यवहार पर मंत्रमुग्ध होकर रह गया। अपनी यात्रा के दौरान वे अनेक सत्कार-समितियों से मिलते तथा उनके अभिनन्दनों का उत्तर देते हुए और लोगों के अनुरोध को न टाल पाने के कारण प्रायः हर स्थान पर औपचारिक व्याख्यान देते हुए थक गये थे। अतः थोड़ी देर बाद स्वामीजी उन लोगों के साथ भोजन के लिये बैठे और तदुपरान्त विश्राम करने के लिये ऊपरी मंजिल के हॉल में चले गये।

पश्चिम में पिछले तीन वर्षों के दौरान व्याख्यान, धर्म-शिक्षण और शिष्यों को वेदान्त का बोध कराने तथा ध्यान की पद्धतियों का प्रशिक्षण देने में अथक परिश्रम करते रहने से स्वामीजी का स्वास्थ्य काफी कुछ बिगड़ चुका था। इस विषय में उनके सहयोगी बड़ी चिन्ता व्यक्त कर रहे थे और वे स्वयं भी इस बात को महसूस कर रहे थे। यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि इन परिस्थितियों के बावजूद, वे कैसे अपनी समाप्तप्राय ऊर्जा के द्वारा ही, अपने भारत लौटने की यात्रा के दौरान, अपने महान् गुरुदेव के नाम पर और अपने स्वयं के अनुपम व्यक्तित्व

* वस्तुतः वह अंग्रेजी दैनिक 'दि हिन्दू' का प्रतिनिधि था। उस पूरे साक्षात्कार का हिन्दी अनुवाद भी 'विदेशों की बात और देश की समस्याएँ' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। देखिये – विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ४, पृ. २४९-५६

तथा प्रबुद्ध मार्गदर्शन में, भारत के आध्यात्मिक पुनर्जागरण के अपने उत्साहपूर्ण प्रयासों में जुटे हुए थे।

स्वामीजी के साथ बातें करके उनके चेन्नै-प्रवास के दौरान उनके व्याख्यानों का एक ऐसा कार्यक्रम बनाना था, जो जनता की आशा के अनुरूप हो और उनकी योजनाओं तथा भविष्य की आशाओं को उनके देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत भी कर सके। इसके लिये 'अचिंगा' ने प्रोफेसर रंगाचार्य तथा मुझे भी निमंत्रित किया था। प्रोफेसर अगले दिन कुम्भकोणम् लौटने वाले थे, अत: कार्यक्रम तत्काल निश्चित करना था।

स्वामीजी थोड़ा-सा विश्राम कर चुके थे और ऊपर जाकर हम लोगों ने देखा कि वे एक कमरे में दरी पर बैठे हुए हैं। जब हम लोगों ने प्रसंग उठाया, स्वामीजी बोले कि हम आपस में ही उनके व्याख्यानों के विषय निर्धारित कर लें और उन्हें केवल सूचित करके बाकी सब कुछ उन्हीं के हाथों में छोड़ दें। उनका पहला सार्वजनिक व्याख्यान, चेन्नै के लोगों की ओर से उन्हें प्रदत्त अभिनन्दन को स्वीकार करने तथा उसका उत्तर देने के रूप में होने वाला था। उसके बाद उनके चार और व्याख्यान होने वाले थे, जिनमें वे 'विश्व के लिये भारत का सन्देश' तथा 'भारतीय ऋषियों का अपने स्वदेशवासियों को सन्देश' विषयों पर अपने विचारों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करेंगे। स्वामीजी को बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार भारत के राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक जीवन के पुनर्निर्माण के साधनों तथा पद्धतियों का निर्देश भी देना था। हमने स्वामीजी के व्याख्यानों के लिये निम्नलिखित विषय निर्धारित किये – (१) मेरी समर नीति, (२) भारत के महापुरुष, (३) भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव और (४) भारत का भविष्य। उपरोक्त व्याख्यानों के अतिरिक्त भी अचिंगा के विशेष अनुरोध पर स्वामीजी को 'त्रिप्लीकेन-लिटरेरी-सोसायटी' में 'भारत में मेरे कार्य के कुछ पहलू' विषय पर एक वक्तृता देनी पड़ी थी। वस्तुत: उपरोक्त पूरा कार्यक्रम क्रियान्वित हुआ था और स्वामीजी ने अपनी विशिष्ट शैली में पूर्वोल्लिखित सभी विषयों पर प्रकाश डाला था। स्वामीजी सुबह के समय कैसल में होनेवाले दो अन्य बैठकों के लिये भी सहमत हुए थे, जिनमें वे ऐसे लोगों से मिलने वाले थे, जो अपनी पसन्द के प्रश्न स्वामीजी के समक्ष रखकर उनके विचार जानना चाहते थे।

उसी दिन शाम या अगले दिन पूर्वाह्न में (मुझे ठीक स्मरण नहीं है, सम्भवत: अगले दिन) रंगाचार्य तथा मेरी स्वामीजी का थोड़ा-सा गायन सुनने की इच्छा हुई; क्योंकि उनके संगीत के बारे में हमने काफी कुछ सुन रखा था। हमने उनसे 'अष्टपदी' गाने का अनुरोध किया। उस समय उनकी किसी बाह्य कार्यक्रम की व्यस्तता न थी और आवश्यक विश्राम हो जाने के कारण उनका चित्त बड़ा उत्फुल्ल तथा शान्त था, अत: वे तत्काल राजी हो गए। उन्होंने अपने परम मधुर कण्ठ से हमारे अंचल में अप्रचलित एक उपयुक्त राग में जयदेव का एक गीत गाया। उस दिन हमारे ऊपर स्वामीजी का जो प्रभाव पड़ा, वह कभी मिटनेवाला न है। उस दिन उन्होंने अपने उच्चभूमि पर विचरण करनेवाले अलौकिक व्यक्तित्व के एक हल्के-फुल्के पहलू को भी हमारे समक्ष व्यक्त किया था।

यहाँ पर मैं यह भी बता देना चाहूँगा कि उनके कैसल कर्नन में आगमन के प्रथम दिन से अन्तिम दिन तक सर्वदा ही वहाँ नगर के सभी श्रेणियों के नर-नारियों की भीड़ लगी रहती थी। रास्ते पर चलने की अनभ्यस्त, उच्च तथा प्रतिष्ठित परिवारों की अनेक भद्र महिलाएँ इस भाव के साथ कैसल कर्नन में आतीं, मानो किसी मन्दिर में देव-दर्शन को जा रही हों। जब ये सभी लोग अन्दर पहुँचकर स्वामीजी के समक्ष साष्टांग प्रणाम करते, तो उनकी श्रद्धा-भक्ति चरम बिन्दु पर जा पहुँचती और उन्हें लगता मानो अपने कार्यक्षेत्र में लौटे हमारे अवतारों या आचार्यों में से कोई एक हों। सारे दिन और अन्धकार होने के बाद भी कुछ समय तक कैसल के सामने लोगों की भीड़ उनकी प्रतीक्षा करती रहती। लोगों में ऐसी बात फैल गयी थी कि वे सम्बन्ध-स्वामी (एक शैव महापुरुष) के अवतार हैं और आम जनता इस पर पूरी तौर से विश्वास करने लगी थी। जो लोग उनका दर्शन तथा उनके कार्य-कलापों को देखने के लिए प्रतीक्षारत रहते, वे लोग उन्हें कैसल कर्नन में ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते देखकर उन्हें साष्टांग प्रणाम करते; किसी सभास्थल में जाने को जब वे गाड़ी पर चढ़ने के लिए लोगों के निकट से होकर गुजरते, तो सभी लोग एक साथ उन्हें साष्टांग प्रणाम करने को झुक जाते। यह दृश्य बड़ा प्रभावी तथा असाधारण होता। यहाँ तक कि जब हमारे मठों के महन्तगण भी यदा-कदा अपने निष्ठावान शिष्यों से मिलने, या किसी मन्दिर में विग्रह का दर्शन करने, या शोभा- यात्रा के साथ अपने नगर की सड़कों पर निकलकर आम जनता के समक्ष उपस्थित होते हैं, तब भी मैंने कभी आम लोगों के प्रेम तथा सम्मान का भाव, इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से सामूहिक पूजा तथा श्रद्धांजलि के रूप में व्यक्त होता हुआ नहीं देखा। यह इस बात का सूचक है कि अब भी हमारे राष्ट्र का हृदय कहाँ बसता है। मूल बात यह है कि दुनिया की तड़क-भड़क और इसके असार क्षणभंगुर विषय-भोगों का त्याग ही ईश्वर के चरण-कमलों की प्राप्ति तथा उसके फलस्वरूप जागतिक आवागमन के चक्र से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय था।

❖ (क्रमशः) ❖

गीता का जीवन-दर्शन – १४
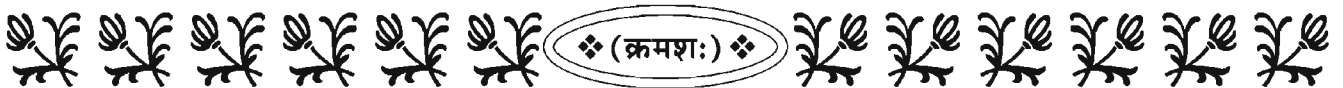
दैवी सम्पदाएँ (१०) अहिंसा

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

अहिंसा दसवीं दैवी-सम्पत्ति है। दैवी-सम्पत्ति में भगवान श्रीकृष्ण ने जिन छब्बीस गुणों को स्थान दिया है, उनमें से अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अद्रोह और क्षमा जैसे गुणों का समावेश अहिंसा में हो जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण गुणों का मूलाधार है। दया, अहिंसा का पर्याय है और अहिंसा धर्म का। महाभारत में यक्ष द्वारा पूछने पर कि धर्म क्या है? धर्मराज युधिष्ठिर उत्तर देते हैं कि भूतदया अर्थात् प्राणियों पर दया ही धर्म है। जो कर्म अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है – "यत्स्याद् अहिंसा-संयुक्तं स धर्म इति निश्चय:।"

अहिंसा हिंसा का विपर्यय है, उसका पूर्ण अभाव है। आचार्य शंकर के अनुसार यह प्राणियों को पीड़ा की वर्जना है – "अहिंसा प्राणिनां पीडा-वर्जनम्।" कायिक, वाचिक तथा मानसिक – हिंसा के तीन रूप हैं। प्रथम रूप स्थूल है। किसी को शारीरिक आघात पहुँचाना या मार डालना कायिक हिंसा है। अपशब्द कहना तथा चुगली करना वाचिक और किसी की अमंगल-कामना मानसिक हिंसा है। अहिंसा के अनुष्ठान में इन तीनों का त्याग आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का निरूपण करते हुए यमों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है।[१] अहिंसा की साधना में वैरत्याग हो जाता हैं।[२] मन, वाणी तथा कर्म में किसी प्राणी के प्रति वैर नहीं रहता। सभी जीवों के प्रति मैत्री और करुणा की भावना हो जाती है। वह किसी से द्रोह नहीं करता। जिसका किसी से द्वेष नहीं, जो मैत्री व करुणा के भावों से युक्त है, वही ईश्वर को प्रिय है और उन्हें प्राप्त होता है।[३] व्रत-उपवास आदि अनुष्ठानों का उद्देश्य है मन को हिंसामूलक ईर्ष्या-काम-क्रोधादि कल्मषों से मुक्त कर अवदातरूपा अहिंसा से परिप्लावित करना है।[४]

अहिंसा का अर्थ है संसार के अभ्युदय, कल्याण तथा सुख के लिये निष्काम भाव से किया गया कार्य और परपीड़न हिंसा है। महाभारत में अहिंसा को परम सुख और परम पद की प्राप्ति का साधन कहा गया है। देवता और अतिथियों की सेवा, वेदों का अध्ययन, तप, यज्ञ, दान, आचार्य और गुरु की सेवा तथा तीर्थाटन आदि अहिंसा की सोलहवीं कला का भी स्पर्श नहीं करते। अहिंसा दीर्घजीवी होने का महामंत्र है। अहिंसा में अपने समान सबको समझना, राग-द्वेष का त्याग, समता का भाव तथा समस्त जगत् के प्रति प्रेममय व्यवहार होता है। इसमें अहंकार का कोई स्थान नहीं है। महाभारत में धर्म के लक्षणों में अहिंसा को प्राथमिकता दी गई है –

अहिंसा सत्यमक्रोध,
आनृशंस्यं दमस्तथा
आर्जवं चैव राजेन्द्र
निश्चितं धर्मलक्ष्मणम्।।
(महाभारत, अनुशा. २२/१९)

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, मृदुता, इन्द्रिय-संयम तथा सरलता ये छह धर्म के लक्षण हैं। अहिंसा का भाव हर मनुष्य के अन्तस्तल में है। मूल रूप से मनुष्य हिंसक प्राणी नहीं है। हमारे भीतर अहिंसा की दैवी-सम्पत्ति प्रसुप्त रूप से है, उसे जगाना हमारा कार्य है। यह यज्ञ है। इसमें कष्ट की समिधा, स्वार्थ-त्याग की हवन सामग्री, जीवन के समस्त अर्जन का आज्य, समर्पण का मंत्र, अहंकार की आहुति, विनम्रता की दक्षिणा और सत् संकल्प का व्रत अनिवार्य है। अहिंसा के गुण-वर्णन में सैकड़ों वर्ष भी कम होंगे।

अहिंसा आत्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है। देवत्व का प्रकाश है। करुणा, मुदिता और मैत्री की व्यंजना है। आत्म-संयम का प्राकट्य और ममत्व का प्रतीक है।

विष्णु पुराण में एक अत्यन्त सुन्दर रूपक बाँधा गया है, उसमें हिंसा को अधर्म की पत्नी कहा है। इनसे असत्य नाम का पुत्र और निकृति नाम की पुत्री का जन्म हुआ है। इनसे

१) यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावंगानि। तथा अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।। पतंजलि. २/२९-३०

(२) अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:।। वही २/३५

(३) निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव।। गीता ११/५५

(४) खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समा दित्सते तथा तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसा निदनेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपाम् अहिंसा करोति। (पञ्च-शिखाचार्य)

भय तथा नरक नाम के पुत्र और माया तथा वेदना नाम की जुड़वा कन्याएँ उत्पन्न हुईं। माया से मृत्यु नामक पुत्र और वेदना से दु:ख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मृत्यु से व्याधि जरा, शोक, तृष्णा, क्रोध उत्पन्न हुए। ये सब अधर्म-रूप और दु:खोत्तर हैं। इनकी कोई सन्तति नहीं है। सभी ऊर्ध्वरेता हैं।

महाभारत में अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम विद्या और परम गति कहा है –

अहिंसा परमो धर्म: अहिंसा परमं तप: ।
अहिंसा परमा विद्या, अहिंसा परमा गति: ।।

अहिंसा व्यक्ति और समाज का धर्म है। धर्म में धारण करने की शक्ति होती है। समाज तथा व्यक्ति की धारणा अहिंसा के परम धर्म पर आश्रित है। समाज की मर्यादा की रक्षा करना, उसे प्रगति की ओर बढ़ाना, उसमें सुख-शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि करना अहिंसा का कार्य है। यदि समाज में हिंसा का वातावरण हो, लोग एक-दूसरे पर व्याघ्रवत् आक्रमण करें, मार-काट करें, कहीं कोई सुननेवाला न हो, सहकार की भावना न रहे, तो समाज पूर्णत: नष्ट हो जायेगा।

समाज में साहित्य, संगीत, कला तथा संस्कृति का विकास इसलिये हो सका, क्योंकि व्यक्ति ने समाज में शान्ति की स्थापना की। वह अहिंसा का उपासक है, हिंसा से उसे घृणा है। सहानुभूति, मातृभाव, क्षमा, त्याग, मृदुता, सहिष्णुता, आपसी प्रेम, बलिदान एवं सहकारिता मनुष्य की अन्तश्चेतना में विद्यमान हैं, जिनसे अहिंसा की पुष्टि होती है। मनुष्य में हिंसा का भाव क्षणिक है, स्थायी नहीं है। कोई भी व्यक्ति पूरे समय हिंसक मनोवृत्ति धारण किये नहीं रह सकता। क्रूरता क्षणिक आवेश है। जब वह आवेश समाप्त होता है, तब मनुष्य स्व-भावस्थ अर्थात् शान्त हो जाता है। हिंसक वृत्ति पाशविक है। इस पर विजय मानवता का लक्ष्य है।

महाभारत-युद्ध के शुरू में जैसे अर्जुन हत्या के पाप की आशंका से दुखी थे, वैसे ही युद्ध के बाद धर्मराज युधिष्ठिर हत्या के पाप से दुखी थे। वे आत्मग्लानि के साथ हिमालय गये, जबकि भीष्म पितामह ने उन्हें राजधर्म के पालन का उपदेश दिया था। कलिंग-युद्ध में सम्राट् अशोक ने जब हजारों लोगों की बिछी हुई लाशों, रक्तरंजित नरमुण्डों तथा रोती-बिलखती स्त्रियों व बच्चों को देखा, तो उनका हृदय करुणापूरित हो उठा। अहिंसा की मानवीय भावना जाग्रत हो गई। युद्ध-चक्र की जगह धर्म-चक्र प्रवर्तित हो गया।

अहिंसा का पालन जीवनचर्या का अंग हो। उसमें किसी फल की आकांक्षा न हो। व्यक्ति को जैसे अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही वह अन्य प्राणियों के प्राणों को भी समझे –

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्‌भि: कृतात्मभि: ।।

(महाभारत, अनुशासन पर्व)

आचार्य विनोबा भावे ने अपने 'गीता-प्रवचन' में बताया है कि समाज में अहिंसा का विकास क्रमश: हो रहा है और उसने अब तक चार चरण पूरे किये हैं, जो इस प्रकार हैं –

(१) परशुरामस्य प्रथमम् –

पहले अहिंसक मानव ने हिंसा से बचने के लिये क्षत्रियवर्ग बनाया, परन्तु वह आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मणों ने हिंसा का सहारा लेकर उन्मत्त क्षत्रियों से समाज की रक्षा की। इस प्रकार परशुराम ने स्वयं अहिंसक होकर भी इक्कीस बार क्षत्रियों का विनाश किया। परन्तु उनका यह प्रयोग असफल रहा, क्योंकि हिंसामय होकर हिंसा को दूर करना सम्भव नहीं है।

(२) विश्वामित्रादीनां द्वितीयम् –

श्रीराम का युग आया। अहिंसक ब्राह्मणों ने अहिंसा को धारण किया। इस बार उन्होंने प्रण किया कि वे हिंसा के शमन के लिये भी हिंसा का सहारा नहीं लेंगे। इसलिये वे असुरों के अत्याचारों को सहते रहे। यहाँ तक कि अहिंसक ब्राह्मणों की हत्या से हड्डियों का पहाड़ बन गया, तो भी उन्होंने शस्त्र नहीं उठाया। अपने यज्ञ की रक्षा के लिये विश्वामित्र राम को ले गये, किन्तु यह अहिंसा भी अपूर्ण थी, क्योंकि इसमें दूसरों से संरक्षण की अपेक्षा थी। ऐसी कमजोरी से पूर्ण अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुँच सकती थी।

(३) महतां सतां तृतीयम् –

आगे चलकर महान सन्तों ने एक तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपने बचाव के लिये दूसरों की सहायता कदापि न लेंगे। उन्होंने सोचा कि उनकी अहिंसा ही उनका बचाव करेगी। यही सच्चा बचाव होगा। सन्तों का यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता तक पहुँचाया, पर यह व्यक्तिगत रहा।

(४) अस्माकं चतुर्थम् –

सन्तों के व्यक्तिगत प्रयोग के बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है – सारा समाज मिलकर अहिंसक साधनों से हिंसा का प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अब तक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोग में अपूर्णता थी और है।

अहिंसा सम्बन्धी गाँधीजी के विचार

अहिंसा गाँधीजी के विश्वास का प्रथम और अन्तिम आधार था। उनकी घोषणा थी – "अहिंसा का प्रचार ही मेरा जीवन लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के अतिरिक्त मेरी और कोई अभिरुचि नहीं है।" वे कहते हैं – "यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है, जो आज हमारी आँखों के सामने है। किसी को न मारना, इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिये जो वस्तु आवश्यक है,

उस पर अधिकार रखना भी हिंसा है।'' इस मार्ग के बारे में उनका मत है – ''सत्य तथा अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही सँकरा भी है, यह खड्ग की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा-सा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से उसके दर्शन होते हैं।'' अहिंसा और सत्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। वे कहते हैं – ''इतना तो सबको समझ लेना चाहिये कि अहिंसा के बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य ऐसे घुले-मिले हैं, मानो एक ही सिक्के के दोनों पहलू हों। उसमें किसे उलटा कहें और किसे सीधा? तो भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिये।'' गाँधीजी अहिंसा को व्यक्ति तथा समाज से निरपेक्ष धर्म मानते थे और इसे सामाजिक परिवर्तन का भी एक अस्त्र मानते थे। वे मानते थे कि हिंसा की सफलता क्षणिक होती है। अहिंसा केवल निषेधात्मक प्रत्यय नहीं है, अपितु जीवन का गतिशील विधेयात्मक पक्ष है। अहिंसा कायरों और भीरुओं का अस्त्र नहीं है और न ही कायरता का आवरण है।

अहिंसा विषयक गीता का अभिमत –

अहिंसा वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य है। सामाजिक मूल्य की दृष्टि से गीता निरपेक्ष अहिंसा का प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि समाज में जब तक आसुरी शक्तियों की सत्ता है, तब तक निरपेक्ष अहिंसा की कल्पना सम्भव नहीं है। इसलिये भगवान कृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा – ''हे अर्जुन, क्षत्रिय के लिये अन्य ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जो धर्म्य अर्थात् धर्मानुकूल युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ हो – **धर्म्यादि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।** (२.३१) धर्म की रक्षा के लिये उसे युद्ध करना है, हिंसा करना है, आततायियों का वध करना है। यदि वह इससे विरत होता है, तो यह क्षत्रिय के लिये महान अकीर्तिकर है। क्षत्रिय वह है, जो सत्य की, प्राणियों की, सामाजिक मूल्यों की विनाश से रक्षा करे – **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढः।** (कालिदास) क्षत्रियत्व प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिये, क्योंकि सामाजिक आदर्शों की रक्षा का सार्वजनिक दायित्व है। यदि व्यक्ति अपने इस सामाजिक दायित्व का निर्वाह नहीं करता है, तो वह कायर है। वह अकीर्ति का भाजन और पापी है (२/३३)। इस धर्म-युद्ध में व्यक्ति यदि मर जाता है, तो उसे स्वर्ग मिलता है और यदि जीता है तो समाज का आदरणीय बनता है। उसके दोनों हाथों में लड्डू होते हैं।

गीता का ज्ञानसूर्य धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में प्रस्फुटित हुआ था। धर्मक्षेत्र अहिंसा का और कुरुक्षेत्र हिंसा का प्रतीक है। धर्मक्षेत्र जब कुरुक्षेत्र का विशेषण हो जाता है, तब हिंसा भी अहिंसा बन जाती है। हिंसा के पीछे जब किसी प्रकार के काम-क्रोध-लोभादि भावों के वैयक्तिक आधार न होकर, समष्टि-हित के संरक्षण का सात्त्विक संकल्प निहित होता है, तब हिंसा अहिंसा का पवित्र रूप ले लेती है। आसक्ति-हीन, राग-द्वेषादि से मुक्त, ज्ञान में दत्त-चित्त होकर यज्ञ-भावना से किया गया कर्म अकर्म हो जाता है, उसका फल नहीं मिलता। निरहंकार तथा निष्काम भाव से यदि कोई समस्त संसार की भी हत्या कर दे, तो वह उसके बन्धनों में नहीं बँधता (४/२३ तथा १८/१७)। स्पष्ट है, गीता कर्म के पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति को महत्व देती है। यदि उद्देश्य अच्छा है, तो बुरे कर्म से पाप लगनेवाला नहीं है। यही कारण है धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित असुरों के वध-रूप हिंसामय कर्म अहिंसामय हैं। समाज में मानवीय मूल्यों की रक्षा हेतु यदि हिंसा का आश्रय नहीं लिया गया, तो हिंसक आसुरी शक्तियों का वर्चस्व स्थापित हो जायेगा और दैवी सम्पत्तियाँ समाज से पूर्णत: निर्वासित हो जायेंगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय मनीषा मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिये ही किये गये युद्ध को ही 'धर्मयुद्ध' मानती है। 'जिहाद' और 'क्रूसेड' जैसी मान्यतायें इस भूमि पर कभी विकसित नहीं हुईं।

व्यक्ति-धर्म के रूप में गीता स्पष्ट करती है कि अहिंसा व्यक्ति की आचार-संहिता का ऐसा अंग है, जो सर्वथा निरपेक्ष है, जिसमें शिथिलता, अपवाद अथवा विकल्प की व्यवस्था नहीं की जा सकती। उसका अभिमत है कि जो व्यक्ति अपनी कर्मेन्द्रियों को संयमित कर हिंसा तो नहीं करता, परन्तु मन से हिंसा की सोचता है, उसकी अहिंसा आडम्बरपूर्ण है, मिथ्याचार है। जो यह कहता है कि मैंने आज इन्हें मार डाला है, कल उन्हें मारूँगा, वह नरक में जायेगा (१६/१४)। जो दूसरों से द्वेष करता है, उसे भगवान आसुरी योनियों में भेजते हैं (१६/१९)। जो सांसारिक पदार्थों को सुख-बुद्धि से भोगता है, वह हिंसा ही करता है। कारण है कि सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति संसार की सेवा के लिये होती है और वे समष्टि के होते हैं। उन पर व्यक्ति यदि अपना निजी अधिकार मानता है और सुख की कामना से उनका उपभोग करता है, तो हिंसा करता है; इससे बचने का मार्ग यही है कि वह पदार्थों को समष्टि का मानकर समष्टि की सेवा में लगा दे और भोगबुद्धि से उनका उपभोग न करे। इसमें उसे पाप नहीं लगेगा (४.२१)। ज्ञानी वह है, जो सभी प्राणियों को समान देखता है (५/१८)। अपनी आत्मा के समान सबको देखनेवाला योगी है। स्पष्ट है कि वैयक्तिक धरातल पर गीता निरपेक्ष अहिंसा ही मानती है।

हिंसा केवल दूसरों को ही मारना या क्लेश पहुँचाना नहीं है; स्वयं को भी दारुण पीड़ा या असहनीय वेदना से व्यथित

करना तथा आत्महत्या करना क्रूरतम हिंसा है। गीता उस उग्र तप की निन्दा करती है, जिससे आत्मा को पीड़ा पहुँचती हो, और जो शास्त्रविहित न हो। जिससे शरीरस्थ पंचभूतों तथा परमात्मा को कष्ट पहुँचता हो। इसे आसुरी प्रवृत्ति कहा है। इस प्रकार की जघन्य-गुण वृत्तियों का आचरण करनेवाले अधम योनियों को प्राप्त होते हैं। इन उग्रकर्मा लोगों का जन्म संसार के अहित तथा विनाश के लिये होता है। ये अल्पबुद्धि वाले होते हैं और इनकी आत्माएँ अतृप्त तथा अशान्त रहकर भटकती रहती हैं। इनको गति नहीं मिलती। पितरों के साथ इन्हें पिण्डदान नहीं दिया जाता। ये हताश, निराश और पराजेय मनोवृत्ति के होते हैं। महाभारत में लिखा है कि काम, क्रोध अथवा अन्य किसी भी कारण से जो आत्महत्या करते हैं वे अनन्त काल तक नरक में निवास करते हैं –

कामात् क्रोधात् भयाद् वापि यदि चेत् संत्यजेत् तनुम्।
सोऽनन्तं नरकं याति आत्म-हन्तृत्व कारणात्॥

(महाभारत, अ. क्र. १४५)

इस घोर हिंसा के पाप से बचने के लिये व्यक्ति को दैवी सम्पदा रूप अहिंसा की उपासना आवश्यक है।

बौद्ध धर्म में सम्यक् अजीविका का विधान है; हिंसाप्रवण होने के कारण पाँच जीविकाओं को अयोग्य ठहराया है –

(१) सत्थ वणिज्जा (शस्त्र का व्यापार)
(२) सत्त वणिज्जा (प्राणी का व्यापार)
(३) मांस वणिज्जा (माँस का व्यापार)
(४) मज्ज वणिज्जा (मद्य का व्यापार)
(५) विस वणिज्जा (विष का व्यापार)

अन्त में यह कथन सार्थक है – इस बात पर जितना बल क्यों न दिया जाय, कम है कि भारतीय संस्कृति का इतिहास अहिंसा की अवधारणा के विकास का इतिहास है।[५] विश्व के विचार-जगत् को अहिंसा भारत का महत्तम दान है।[६] डॉ. राधाकृष्णन का मत है – "हिन्दू धर्मग्रन्थों के अनुसार अहिंसा सर्वोच्च मूल्य है।"[७] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि यज्ञों की दक्षिणा नैतिक गुण है, जिनमें एक अहिंसा भी है।[८] पद्म-पुराण में कहा गया है कि जिन आठ पुष्पों से भगवान विष्णु अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, उनमें अहिंसा प्रथम है।[९] सभी धर्मों में अहिंसा समादृत है। इसके बिना मनुष्य का पूर्णतया विकास असम्भव है। आज चारों ओर अस्त्र-शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा है। प्रतिदिन घातक हथियारों के आविष्कार हो रहे हैं। दुनिया बारूद के ढेर पर बैठी है। विश्व में तनाव व्याप्त है। संसार भयभीत है। यह सब इसलिये है कि भौतिक समृद्धि के साथ मानव की हिंसात्मक वृतियाँ उभरी हैं। यदि अहिंसा से उनका परिष्कार होता है, तो विश्व में सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। इस प्रकार आज की परिस्थितियों में भी अहिंसा की महत्ता न्यून नहीं है। वह निश्चित ही दैवी गुण है, जिसकी आकांक्षा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सदैव रहेगी।

❖ (क्रमशः) ❖

५. श्रीधरानी, के. एल., 'वार विदाउट वायलेंस', पृ. १५४
६. डॉ. राधाकृष्णन्, 'रेलीजन एंड सोसायटी', पृ. २०१ ७. वही
८. अथ यत् तपोदानं आर्जवम् अहिंसा सत्यवचनम् इति दक्षिण:। छान्दोग्य। (३/१७/४)
९. अहिंसा प्रथमं पुष्पं, पुष्पम् इन्द्रियनिग्रह:।
सर्वभूतदया पुष्पं, क्षमा पुष्पं विशेषत:॥
शान्ति: पुष्पं तप: पुष्पं, ध्यानपुष्पं तथैवच।
सत्यम् अष्टविधं पुष्पं, विष्णो: प्रीतिकरं भवेत्॥

जग राम-सियामय देखो

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

गुण-दोष से दृष्टि हटाकर
जग राम-सियामय देखो।
मन में विश्वास जमाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

है अनेक का एक में होना,
जैसे आभूषण में सोना।
समता का भाव जगाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

वही दृश्य है, वही है द्रष्टा,
वही सृष्टि है, वही है स्त्रष्टा।
गुरुज्ञान का दीप जलाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

निज अमित रूप प्रकटाये,
वही छुपकर सामने आये।
सत्संग की गंगा नहाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

जड़-चेतन सब तन धारे,
प्रगटे सीताराम हमारे।
प्रभु प्रेम में अश्रु बहाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

राजेश तजो मनमानी,
सियराममय सब जग जानी।
तुलसी की वाणी गाकर,
जग राम-सियामय देखो॥

माँ श्री सारदा देवी (१५)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

रामेश्वर के प्राकट्य के बारे में पुराण कहते हैं – "वानर-सेना के साथ लंका जाने हेतु समुद्र पर सेतु बनाते समय एक बार श्रीराम ने प्यास लगने पर पानी माँगा। पानी आ जाने पर उन्हें याद आया कि शिवपूजा तो अभी हुई ही नहीं है, अत: पानी कैसे पीया जाय? जलपान का विचार त्यागकर उन्होंने एक पार्थिव शिवलिंग बनाकर उसकी यथाविधि पूजा की और उसके बाद प्रार्थना करते हुए बोले – "हे शम्भो! इस समुद्र का जल अगाध है, राक्षसराज रावण भी अति बलवान है और युद्ध में मेरे एकमात्र सहायक वानर भी बड़े चंचल हैं, अत: प्रभो! इस कार्य में आप मेरी सहायता कीजिये। रावण आपका भक्त होने के कारण मनुष्यों के लिए सर्वथा अजेय है, परन्तु हे शिव! आप तो सदा धर्म के पक्षधर हैं, अत: मेरी प्रार्थना पूर्ण कीजिये।" श्रीराम के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान शंकर ज्योतिर्मय रूप धारण करके पार्वती तथा गणेश के साथ उनके सम्मुख प्रगट हुए। श्री रघुनाथ ने भी इस प्रकार शिवजी का दर्शन पाकर पुन: विविध सामग्रियों से उनकी पूजा तथा स्तुति करते हुए अपने लिये विजय की प्रार्थना की। महादेव बोले – "तुम्हारी जय हो।" तब श्रीराम ने पुन: प्रार्थना की – "हे देव! जब आपने दास पर अहैतुकी कृपा की है, तो लोकहितार्थ तथा जगत् को पवित्र करने हेतु कृपया इसी स्थान पर सदैव विराजित रहें।" शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके 'तथास्तु' कहा और शिवलिंग का रूप धारण कर लिया। तब से वे इस पृथ्वी-मण्डल में 'रामेश्वर' नाम से प्रसिद्ध होकर इस समुद्र-तीर पर निवास कर रहे हैं।

रामेश्वर के प्राकट्य के बारे में पुराणों में उपरोक्त कथा के अतिरिक्त इस विषय में दो सुन्दर किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं – एक लोक-मुख से सुनी है और दूसरी मन्दिर के एक कक्ष में रामनाद के राजा द्वारा मूर्ति के रूप में वर्णित है। यहाँ हम दोनों विवरण दे रहे हैं। पहला विवरण –

लंका से मुक्त होकर लौटते समय सीताजी अपार जलराशि पर श्रीराम द्वारा निर्मित सेतुबन्ध देखकर विस्मय तथा आनन्द से अभिभूत हो गयीं। उन्होंने अपने पति की कीर्ति को सदा के लिए अक्षुण्ण करने हेतु वहाँ एक शिवलिंग की स्थापना करने की इच्छा व्यक्त की। स्थापना के लिये उपयुक्त शिवलिंग लाने का काम हनुमानजी को सौंपा गया। हनुमानजी आदेश पाते ही भारत के विभिन्न स्थानों पर गये और केदारनाथ, गोकर्ण तथा अन्य कई प्रकार के लिंग लाकर सीताजी को सौंप दिया। पर सीताजी ने देखा कि उन लिंगों में काशी-विश्वनाथ नहीं हैं। तब उन्होंने हनुमानजी को उसे भी ले आने को फिर भेजा। इसके बाद हनुमानजी के आने में विलम्ब होता देखकर और उन्हें इस कार्य में असफल हुआ समझकर सीताजी ने उस स्थान पर स्वयं खिचड़ी या अन्नपिंड डाल दिया, जो बाद में जमकर पत्थर की भाँति कठोर तथा लिंग के आकार का हो गया। उसी का नाम उन्होंने 'रामेश्वर' रखा। इस प्रकार रामेश्वर की स्थापना हो गयी। बाद में हनुमानजी भी काशीधाम से विश्वेश्वर लिंग ले आये और वहाँ रामेश्वर को देखकर क्षोभ तथा अपमान से क्रुद्ध होकर उस लिंग को अपनी पूँछ में लपेटकर उसे उखाड़कर फेंकने को उद्यत हुए, परन्तु सीताजी द्वारा स्थापित शिवलिंग तो नहीं उखड़ा, परन्तु इस प्रकार बलप्रयोग करने से हनुमानजी की पूँछ ही टूट गयी और वहाँ से एक मील दूर 'रामझरोखा' नामक स्थान पर जा गिरी। यह देख श्रीराम ने हनुमानजी को सांत्वना दीं और उनके लाये विश्वनाथ, गोकर्ण आदि लिंगों की रामेश्वर के चारों ओर स्थापना कर दी।

दूसरा वृत्तान्त इस प्रकार है – लंका से जानकी का उद्धार करके लौटते समय यहाँ आकर श्रीरामचन्द्र ने शिवपूजा करने के लिए हनुमान को काशी से एक शिवलिंग ले आने का आदेश दिया। आदेश पाते ही पवनपुत्र तेजी से दौड़कर तत्काल काशी पहुँचे और वहाँ रास्ते में असंख्य शिवलिंग देखकर अपनी वानर-बुद्धिवश सोचा कि 'शिव कहीं भाग न जायँ', अत: एक की जगह दो लिंगों को उन्होंने अपनी काँखों में दबाया और शिव को प्रसन्न करने के लिये अपनी पूँछ में एक घण्टी बाँधने का प्रयास करने लगे। उन्होंने सोचा कि घण्टी की ध्वनि करते हुए वे शिवजी को ले जायेंगे, परन्तु घण्टी बाँधते समय ही एक शिव खिसक गये। बचे

हुए शिव के साथ लौटकर हनुमानजी ने देखा कि उनके आने में विलम्ब होता देखकर श्रीरामचन्द्र समुद्र-तट की बालुका से शिवलिंग बनाकर उनकी स्थापना कर चुके हैं। उन्हें उस लिंग की पूजा करने को प्रस्तुत देखकर हनुमान अभिमानपूर्वक मुँह लटकाकर खड़े रहे, परन्तु भगवान ने उनका मनोभाव समझ लिया और भक्त का मान बढ़ाने हेतु उनके द्वारा लाये हुए शिव की स्थापना कर पहले उसी की पूजा की और तब अपने शिव की पूजा की। तबसे उसी क्रम से पहले हनुमान द्वारा लाये विश्वनाथ की और उसके बाद श्रीरामचन्द्र द्वारा निर्मित रामेश्वर की पूजा तथा भोग आदि होते हैं।

रामेश्वर का मन्दिर पत्थरों से बना है और अत्यन्त विशाल, खुदाई के कार्य से परिपूर्ण और देखने में अद्भुत है। इसके चौकोने आँगन की लम्बाई १००० फीट तथा चौड़ाई ६५७ फीट है। मन्दिर के बाहर चारों ओर राजपथ है। प्रवेशद्वार १०० फीट और मन्दिर १२० फीट ऊँचा है। इस चौकोने विशाल मन्दिर के द्वार से भीतर प्रवेश करने पर हम देखते हैं कि पूर्व की ओर के बरामदे में मंत्रियों के साथ पलिगा राजा की मूर्ति बनी हुई है। इन्हीं राजा ने वहाँ पर दानशाला स्थापित की थी। मन्दिर के भीतर एक ओर चारों ओर पत्थरों से बँधा हुआ एक पक्का कुण्ड है। मन्दिर के भीतर कई महल हैं और उन महलों के विभिन्न दालानों में देवताओं की भिन्न-भिन्न समय पर होनेवाली भिन्न-भिन्न लीलाओं या उत्सवों का स्थान तथा देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार दो-तीन महल पार करने के बाद रामेश्वर शिव के महल में प्रवेश किया जाता है। इस महल के प्रांगण में करीब एक-मंजिल जितना ऊँची पत्थर से बनी 'नन्दी' की मूर्ति है। पास में ही लगभग तिमंजले जितना ऊँचा एक लोहे का स्तम्भ गड़ा हुआ है, प्रतिदिन उसकी पूजा होती है। इस महल के चारों ओर विश्वनाथ, केदारनाथ, गोकर्ण आदि की अलग-अलग लिंग-मूर्तियाँ विराजित हैं। बगल के एक अन्य महल में पार्वती देवी की मूर्ति है।

उस रात को हम लोग राजपथ से ही रामेश्वर को प्रणाम कर अपने निवास स्थान पर जाकर ठहर गये। अगले दिन सुबह समुद्र-स्नान के बाद यथारीति उपरोक्त देवी-देवताओं के दर्शन के बाद हम रामेश्वर के स्थान पर पहुँचे। बलुआ पत्थर से बनी रामेश्वर की लिंगमूर्ति कुण्ड के बीच में है। लिंग एक खूब छोटे-से कुण्ड के ऊपर लगभग आधा हाथ ऊँचा है। यह कठोर पाषाण का नहीं है। बलुआ पत्थर का होने के कारण उसे सर्वदा स्वर्ण-मुकुट से ढँककर रखा जाता है और मुकुट के ऊपर ही जलाभिषेक तथा पूजा आदि किया जाता है। तो भी सुबह गंगाजल से प्रथम स्नान के समय मुकुट को उतार दिया जाता है। उस समय वास्तविक मूर्ति का दर्शन होता है। या फिर यदि कोई यात्री के गंगोत्री का जल चढ़ाना चाहता हो और इस निमित्त रामनाद के राजा के पास पौने दो रुपये जमा कराकर अनुमति ले आया हो, तो मन्दिर के पुजारी आवरण हटाकर वह जल बाबा के मस्तक पर चढ़ा देते हैं। रामेश्वर के नित्य स्नान तथा भोग में गंगाजल का उपयोग होता है और उस जल की आपूर्ति का दैनन्दिन खर्च चलाने के लिए रानी अहल्याबाई होल्कर काफी धन देकर अच्छी व्यवस्था कर गयी हैं।

बाबा के सभी पुजारी दक्षिणी ब्राह्मण हैं। बाबा के कक्ष में कोई यात्री प्रवेश नहीं कर सकता। पूजा कराने की इच्छा होने पर इन पुजारी लोगों द्वारा ही पूजा करानी पड़ती है। यहाँ तक कि दक्षिणी ब्राह्मणियाँ भी प्रवेश करती हैं, परन्तु आर्यावर्त के ब्राह्मणों को उसमें प्रवेश का अधिकार नहीं है। वैसे शिव-मन्दिर का ऐसा नियम भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

तथापि माँ की बात अलग थी। रामनाद के राजा स्वामीजी के शिष्य हैं और रामेश्वर द्वीप के उन्हीं के राज्य के अन्तर्गत होने के कारण राजा ने पहले से ही कहला भेजा था कि उनके गुरु की गुरु – परम-गुरु देव-दर्शन के लिए आ रही हैं – उनके लिए भलीभाँति सारी व्यवस्था कर दी जाय। एक दिन माँ तथा उनके स्त्री-पुरुष – सभी भक्तों ने पण्डों से सवा रुपये प्रति तोले के हिसाब से गंगोत्री का जल खरीदकर बाबा का मुकुट हटवाकर अपने हाथों से वह जल और सोने के बिल्व-पत्रों से बाबा के कक्ष में जाकर उनकी पूजा की। शशी महाराज ने माँ की पूजा के लिए पहले से ही १०८ सोने के बिल्व-पत्र गढ़वा कर रख लिये थे।

हम लोगों ने यथारीति तीन रात रामेश्वर-निवास, समुद्र-स्नान और बाबा की पूजा तथा आरती का दर्शन किया। तीसरे दिन माँ ने विशेष रूप से बाबा की पूजा की और कथक के मुँह से पण्डे लोगों की पोथी में लिखी रामेश्वर की कथा सुनकर उन लोगों को भोजन कराया। माँ ने हाथ में सुपारी तथा पैसे लेकर कथा सुनी और सुनने के बाद उन्हें देकर प्रणाम किया। हर पण्डे को उन्होंने पानी का एक-एक घड़ा भी दान किया।

जिस दिन माँ ने रामेश्वर को गंगोत्री के जल से स्नान तथा सोने के बिल्व-पत्रों से उनकी पूजा की थी, उस दिन सर्वप्रथम उन्होंने अपने दोनों शिष्यों के मस्तक को अपने हाथों से बाबा का स्पर्श कराया और उनसे स्नान तथा पूजा कराने के बाद ही स्वयं किया। इसके बाद गोलाप-माँ, छोटी मामी और राधू ने शिवजी को स्नान कराया तथा पूजा की थी।

लगभग प्रतिदिन संध्या के बाद धूमधाम के साथ रोशनी, वाद्य और हाथी-घोड़ों के साथ राजपथ पर रामेश्वर की सवारी या पालकी निकलती है। इस सवारी में प्रतिदिन बाबा की भिन्न-भिन्न लीलाएँ या किसी उत्सव का अनुकरण देखने में आता है। सवारी में जितनी भी मूर्तियाँ निकलती हैं, वे सभी

सोने या चाँदी से बनी बाबा की सचल मूर्तियाँ हैं। 'देव-नर्तकी' कहलाने वाली नृत्यांगनाएँ नृत्य-गीत करती हुई सवारी के आगे-आगे चलती हैं। इस प्रकार पूरे मन्दिर की प्रदक्षिणा करने के बाद सवारी फिर मन्दिर में प्रवेश करती है और वहाँ भी कुछ देर तक नृत्य-गीत होता है। इन देव-नर्तकियों के वस्त्र, आभूषण तथा भरण-पोषण का सारा खर्च मन्दिर से दिया जाता है, परन्तु उनमें से किसी में कोई चरित्र-दोष दिखाई पड़े, तो उससे आभूषण वापस ले लिये जाते हैं और उसे मन्दिर की सेवा से हटा दिया जाता है।

कहते हैं कि बाबा के मस्तक पर गंगोत्री का जल चढ़ाते समय लिंग-मूर्ति थोड़ी बढ़ जाती है। कार्तिक के महीने में रामेश्वर में एक मेला लगता है, जिसमें लगभग दो लाख लोग एकत्र होते हैं। पास में ही श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित 'शृंगेरी' या शृंग-गिरि मठ है। शहर में एक पुराना महल है और इसके बगल में नल-मन्दिर या 'टोनागुड़ी' है। इस महल और सेतु के निर्माता नल के मन्दिर का विशेष कुछ नहीं – केवल प्राचीन ध्वंसावशेष मात्र ही बचा है। पास ही पत्थरों से बना हुआ पक्का लक्ष्मण-कुण्ड है – इस कुण्ड में स्नान, पूजा तथा श्राद्ध आदि किये जाते हैं। कुण्ड का जल मधुर तथा स्वच्छ है। नगर के किनारे समुद्र-तट पर 'राम-झरोखा' है। यह बालू का पहाड़ या बालुकामय स्तूप है। इस स्तूप के निचले भाग में एक टूटा हुआ फाटक तथा कुछ मन्दिरों के ध्वंसावशेष हैं। सीढ़ी से ऊपर जाने पर एक बड़ा मन्दिर मिलता है, जिसमें राम-सीता तथा हनुमान की मूर्तियाँ हैं। रामझरोखा के ऊपर से पूरा रामेश्वर द्वीप तथा चारों ओर समुद्र का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। पण्डे ने बताया कि श्रीरामचन्द्र ने यहीं से हनुमान को लंका जाने के लिए सेतु बाँधने का स्थान बताया था। यहीं गंधमादन पर्वत भी है।

रामेश्वर से १४-१५ मील दूर, द्वीप के अन्तिम छोर पर सुप्रसिद्ध 'धनुष्कोटि' या 'धनुष्तीर्थ' है। इस स्थान तक रेल जाती है। पैदल जाने पर दो दिन और नाव से प्रायः तीन घण्टे लगते हैं। वहाँ पण्डों के केवल चार-पाँच घर हैं। यहाँ स्नान, दान तथा श्राद्ध आदि और सोने-चाँदी के तीर-धनुष से समुद्र-पूजा की जाती है। माँ ने अपनी तरफ से कृष्णलाल तथा लेखक को सोने-चाँदी के तीर-धनुष देकर रेलगाड़ी से वहाँ भेजा। हम लोग यथारीति समुद्र-पूजा कर आये।

पण्डों के मुँह से, धनुष्तीर्थ के बारे में जो दो वृत्तान्त सुनने को मिले, वे इस प्रकार हैं –

(१) श्रीरामचन्द्र के लिये सेतु निर्माण करते-करते नल जब यहाँ तक पहुँचे, तो समुद्र ने उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। वानर जितना भी पत्थर जोड़ते, समुद्र उन्हें तोड़ डालता। समुद्र के इस प्रकार बाधा डालने पर श्रीराम स्वयं धनुष-बाण लेकर उसे विद्ध करने को उद्यत हुए, तब वह भयभीत होकर उनके पास आया और अर्घ्य आदि देकर उन्हें प्रसन्न करके बोला – "अब मैं आपके कार्य में बाधा नहीं डालूँगा।" इसीलिए इस स्थान का नाम धनुष्तीर्थ पड़ा।

(२) लंका से श्रीराम के लौटते समय समुद्र को आशंका हुई कि इस सेतु का उपयोग करके हर तरह के लोग लंका पहुँच जायेंगे, अतः वह अपनी मर्यादा की रक्षा हेतु श्रीराम के पास आकर उसे तोड़ डालने के लिए प्रार्थना करने लगा। श्रीराम ने भी उसे दुखी देखकर अपने धनुष-बाण की सहायता से उसे तोड़कर समुद्र के मर्यादा की रक्षा की। इस कारण इस स्थान का ऐसा ('धनुषकोटि' या 'धनुष्कोटी') नाम पड़ा।

धनुष्तीर्थ से २-३ मील दूर मन्नार-द्वीप या सेतु का दूसरा छोर देखा जा सकता है। सेतु का वह अंश जलमग्न है, परन्तु पानी कम होने के कारण इससे होकर नौका जा सकती है, पर जहाज आदि नहीं जा सकते। यहाँ का दृश्य अत्यन्त रमणीय है। बाँयी ओर शान्त बंगाल की खाड़ी और दक्षिण में प्रबल तरंगों से पूर्ण हिन्द महासागर। धनुष्तीर्थ में परस्पर-विरोधी इन दो समुद्रों के इस मिलन में उग्र तथा शान्त भाव

पुरखों की थाती

कार्यार्थी भजते लोके यावत्कार्यं न सिद्ध्यति ।
उत्तीर्णे च परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् ।।

– काम निकालनेवाला व्यक्ति तभी तक किसी की पूछ करता है, जब तक कि उसका काम नहीं निकल जाता; नदी के उस पार उतर जाने के बाद व्यक्ति को नौका की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है।

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकी गन्धम् आघ्रातुं स्वयमायाति षट्पदाः ।।

– जिस प्रकार फैलते हुए केवड़े के फूल का गन्ध लेने के लिये भौंरे स्वयं ही आ जाते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के गुण ही उसकी कीर्ति को दूर बसनेवाले सज्जनों तक पहुँचा देनेवाले दूत का काम करते हैं।

गुणयुक्तोऽपि अधो याति रिक्तः कूपे यथा घटः।
निर्गुणोऽपि भृतः पश्य, जनैः शिरसि धार्यते ।।

– गुणवान व्यक्ति यदि निर्धन हो, तो वह गुण अर्थात् रस्सी से युक्त खाली घड़े के कुँए में उतरने के समान पतित होता है; परन्तु गुण अर्थात् रस्सी से रहित होते हुए भी यदि भरे हुए घड़े के समान धनवान हो, तो देखो, लोग कैसे उसे सिर पर धारण करते हैं।

सम्मिलन दिखाई देता है। एक दिन मन्दिर के व्यवस्थापकों द्वारा मणिकोठा (रत्नागार) खोलकर माँ को दिखाया गया। प्रकोष्ठ के सामने एक छोटा-सा दीपक जल रहा था, परन्तु उस क्षीण आलोक में भी पूरा कमरा तथा अलंकार आदि झलमला रहे थे। उसे देखकर माँ अत्यन्त आनन्दित हुईं।

रामेश्वर में तीन रात निवास करने के बाद हम लोग मदुरै लौट आये। वहाँ हमारा एक दिन निवास हुआ और शशी महाराज का एक व्याख्यान भी हुआ। अगले दिन वहाँ से विदा होकर हम लोग पुनः मद्रास लौट आये।

मद्रास में कुछ दिन रहने के बाद श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ। उत्सव के दौरान ठीक बंगाल की ही भाँति मद्रासी कीर्तनियों के दल मठ में आने और गाने लगे। ठाकुर की जन्मतिथि-पूजा के दिन शशी महाराज की प्रेरणा से दो भक्तों ने माँ से दीक्षा ली। अब तक मद्रास में जो स्त्री-पुरुष-भक्त माँ से दीक्षित हुए, उनमें एक महिला प्रमुख थीं। दीक्षा के बाद वे तीन रात माँ के साथ रहीं और आनन्दपूर्वक बंगाली भोजन ग्रहण किया। इन्हें माँ का विशेष स्नेह मिला था। मद्रास में ही मैंने पहली बार बिजली की ट्रामगाड़ी देखी।

श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के बाद बैंगलोर मठ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी निर्मलान्द (तुलसी महाराज) मद्रास आये। उनके अत्यन्त आग्रह पर माँ बैंगलोर गयीं। बैंगलोर के मठ में माँ ने ठाकुर के शयन-कक्ष में तीन रात निवास किया। उनके साथ की अन्य भक्त-महिलाएँ मठ के अन्य कमरों में ठहरीं। इन तीन दिनों के लिये पुरुष-भक्तों के ठहराने के लिए मठ-प्रांगण में तम्बू लगाये गये। बैंगलोर में प्रतिदिन दल-के-दल भक्त माँ को प्रणाम करने आते। कभी-कभी तो उनके लाये फूलों का स्तूप-सा बन जाता। मठ की भूमि में चन्दन का वृक्ष और एक छोटी पहाड़ी देखकर माँ बड़ी आनन्दित हुईं और तुलसी महाराज के अनुरोध पर उन्होंने इस पहाड़ी पर पश्चिम की तरफ मुँह करके बैठकर जप किया।

बैंगलोर बड़ा सुन्दर नगर है। सड़के अत्यन्त साफ-सुथरी हैं। रात में बिजली के प्रकाश में वहाँ की ऊँची-नीची सड़कें तथा भव्य अट्टालिकायें देखने में अत्यन्त मनोहर प्रतीत होती हैं। भारत का यही नगर सर्वप्रथम विद्युत-प्रकाश से आलोकित हुआ था। असल में हम लोगों ने यहीं सबसे पहले बिजली की रोशनी देखी। मैसूर राज्य के रेजीडेंट यहीं रहते हैं। यहाँ एक छावनी भी है। चन्दन इसी प्रदेश से सर्वत्र बिक्री के लिए जाता है। यहाँ से कुछ दूर एक प्रसिद्ध जलप्रपात है।

मद्रास से बैंगलोर और वहाँ से वापस मद्रास की यात्रा माँ आदि ने रेल की प्रथम श्रेणी में की।

बैंगलोर से फिर मद्रास आकर वहाँ दो-एक दिन ठहरने के बाद माँ कलकत्ते के लिए रवाना हुईं। मार्ग में वे राजमन्द्री में वहाँ के जज – एक मद्रासी भक्त की अतिथि के रूप में एक दिन ठहरीं और गोदावरी में स्नान किया। जज वृद्ध और विद्वान् व्यक्ति थे। उन्होंने स्वामी निर्मलानन्द से संस्कृत में सुन्दर शास्त्र-चर्चा की। राजमन्द्री से माँ पुरी आयी और वहाँ तीन-चार दिन ठहरने के बाद चैत्र की २८ तिथि, मंगलवार को कलकत्ते लौटीं। तुलसी महाराज बैंगलोर से कलकत्ते तक साथ-साथ आये थे। निताई की माँ स्वस्थ हो जाने के कारण माँ के साथ पुरी आईं। इस बार माँ पुरी में पहले की भाँति क्षेत्रवासियों के मठ में न रहकर – समुद्र के तट पर स्थित राम-परिवार के विशाल भवन – 'शशी-निकेतन' में ठहरी। सुप्रसिद्ध डॉक्टर विपिन बिहारी घोष उन दिनों पुरी के शशी-निकेतन में ही निवास कर रहे थे।

माँ के कोलकाता लौटने पर, इतने दिनों बाद उन्हें पाकर वहाँ के तथा अन्य स्थानों के भक्त उन्हें प्रणाम करने या दीक्षा लेने को आने लगे। बागबाजार का मकान निरन्तर भक्तों के समागम से मुखरित रहने लगा। जलवायु-परिवर्तन से माँ के भग्न स्वास्थ्य में किंचित् सुधार होने से वे भी पूर्ण उद्यम के साथ सबकी मनोकामना पूर्ण करने लगीं। एक चीज देखने में आयी है कि जो कोई भी माँ के सान्निध्य में आया है, यहाँ तक कि भले ही उसे माँ की अमृतमयी वाणी सुनने का भी सौभाग्य न मिला हो, हो सकता है कि उसे केवल एक बार ही उनके श्रीचरणों के स्पर्श का सौभाग्य मिला हो, उसकी भी यही कामना होती थी कि वह जन्म-जन्म उन्हीं देवदुर्लभ चरणों में पड़ा रहे – यही इच्छा होती थी कि आजीवन उनका दास होकर रहे और सबसे बड़ी आकांक्षा होती थी कि दिन-रात उनका सान्निध्य प्राप्त होता रहे।

१३१८ बंगाब्द (१९११ ई.), वैशाखी पूर्णिमा के दिन यह निबन्ध पूरा हो जाने पर हमें बाध्य होकर यहीं विदा लेना पड़ रहा है। आरम्भ में ही सविस्तार लिखा गया है कि माँ की जीवनी लिखने का असीम साहस मुझमें नहीं है, तथापि मुझे इसी बात का सन्तोष है कि उनके पूत चरित्र रूपी सेतु-निर्माण में गिलहरी की भूमिका निभाने का सौभाग्य हमें मिला है और इस विषय में माँ के मुख की अमृतमयी वाणी की पवित्रता की रक्षा तथा भाषा का ठीक-ठीक प्रयोग कर पाने में यदि सक्षम रहा, तो वह केवल उन्हीं की कृपा से है: त्रुटि या दोष सब हमारा अपना है।

माँ के श्रीचरणों में मेरा प्रणाम है। ठाकुर के श्रीचरणों में मेरा प्रणाम है। माँ और ठाकुर के भक्तों तथा शिष्यों के चरणों में मेरा प्रणाम है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी-समिति के २००५-२००६ के रिपोर्ट का सारांश

रामकृष्ण मिशन की ९७वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में १७ दिसम्बर २००६ को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित हुई।

रामकृष्ण मिशन के १३वें अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी के विगत २५ अप्रैल २००५ को हुए निधन को सदस्यों ने गहरे शोक के साथ याद किया। महाराज एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त वक्ता थे। उनके देहान्त से संन्यासियों तथा भक्तों के हृदय में एक बड़े अभाव की सृष्टि हुई है। उनका निधन संघ के लिये एक महान क्षति है। स्वामी गहनानन्दजी संघ के १४वें अध्यक्ष नियुक्त हुए।

इस वर्ष मिशन ने गुजरात में बड़ौदा, महाराष्ट्र में औरंगाबाद, और आंध्रप्रदेश में कड़पा केन्द्रों का शुभारम्भ किया।

चिकित्सा क्षेत्र में इस वर्ष निम्नलिखित कार्य विशेष उल्लेखनीय रहे – मुजफ्फरपुर के अस्पताल में नेत्र-चिकित्सा कक्ष, बंगाल के कामारपुकुर में शल्यशाला-युक्त नेत्र-चिकित्सालय, वृन्दावन के अस्पताल में गहन चिकित्सा इकाई तथा शल्य-चिकित्सा विभाग, ईटानगर में चल-चिकित्सा ईकाई और लखनऊ-स्थित अस्पताल में रक्त-घटक-पृथक्करण केन्द्र (Blood Component Separation Unit) और स्नायु-शल्य-चिकित्सा विभाग (न्यूरो-सर्जरी वार्ड) की शुरुआत। शैक्षणिक क्षेत्र में इस वर्ष के निम्नलिखित कार्य विशेष उल्लेखनीय रहे – कोयम्बतूर केन्द्र में विवेकानन्द विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत विकलांगता संचालन तथा विशेष शिक्षण (Disability Management and Special Education) शाखा में B.Ed. और M.Ed. के कोर्स, कोलकता-स्थित सेवा प्रतिष्ठान केन्द्र के नर्सिंग कॉलेज में B.Sc. (Hons) कोर्स, नरेन्द्रपुर कालेज (कोलकता) में M.Sc. (Chemistry) कोर्स, चेन्नै के विवेकानन्द कॉलेज में Vivekananda Institute of Algal Technology, पोरबन्दर केन्द्र में Vivekananda Insitiue of Value Education and Culture (VIVEC) और पश्चिम बंगाल के कूचबिहार, मालदा, जलपाईगुड़ी, और सारदापीठ केन्द्रों द्वारा कैदियों की अनौपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण स्वास्थ्य जागरूकता जैसे कार्यक्रम शुरू किये गये। इसके अलावा, राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (विश्वविद्यालय अनुदान संस्थान की एक स्वचालित संस्था) ने कोयम्बतूर केन्द्र स्थित College of Education और Maruti College of Physical Education को यथाक्रम A तथा B++ वर्ग (ग्रेड) की संस्थायें घोषित किया।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत, देश में ग्रामीण स्वच्छता प्रबन्ध के प्रसार में अनुकरणीय सेवा के लिये पश्चिम बंगाल स्थित नरेन्द्रपुर केन्द्र के लोक-शिक्षा-परिषद को भारत सरकार के ग्रामीण मंत्रालय ने निर्मल ग्राम पुरस्कार प्रदान किया। इस वर्ष लोक-शिक्षा-परिषद की उपलब्धियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं – (क) ६५,१०० सस्ते शौचालयों का निर्माण, ९,५६,०७६ लोगों को स्वास्थ्य विज्ञान एवं स्वच्छ पेयजल विषयों में प्रशिक्षण, (ख) पश्चिम बंगाल के ११८ प्रखण्डों में जल से आर्सेनिक तथा लौह दूर करने के यंत्र-स्थापन, (ग) पश्चिम बंगाल के ३ जिलों के १६ वन क्षेत्रों में रहनेवाले ६३१५ आदिवासी परिवारों को केन्द्रित कर आदिवासी-उन्नयन प्रकल्प की शुरुआत।

रामकृष्ण मठ की इस वर्ष निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – आन्धप्रदेश में कड़पा और तमिलनाडु में कोयम्बतूर में मठ-केन्द्र की शुरुआत और कच्छ जिले के धानेटी और आदीपुर स्थानों में राजकोट केन्द्र द्वारा दो निःशुल्क सिलाई प्रशिक्षण केन्द्रों की शुरुआत।

भारत के बाहर अमेरिका स्थित सेंट लुई केन्द्राधीन एक उप-केन्द्र तथा ब्राजील स्थित साओ पालो केन्द्राधीन तीन उप-केन्द्र शुरू किये गये। अमेरिका में फ्लोरिडा राज्य स्थित सेन्ट पीटर्सबर्ग शहर में रामकृष्ण मठ के एक **नये केन्द्र** की शुरुआत हुई।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने १४.३४ करोड़ रुपये खर्च करके देश के कई भागों में बृहत् पैमाने पर **राहत तथा पुनर्वास** के कार्य किये, जिससे २०७५ गाँवों में रहनेवाले १.७१ लाख परिवारों के १०.२१ लाख लोग लाभान्वित हुए। निर्धन छात्रों को छात्र-वृत्ति, वृद्ध, बीमार व असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि **कल्याण-कार्यों** में रु. ५.३५ करोड़ रुपये व्यय हुये। १५ अस्पतालों तथा चल-चिकित्सालयों सहित १७८ चिकित्सा-केन्द्रों से ८२.७१ लाख से अधिक रोगियों को **चिकित्सा-सेवा** प्रदान की गयी, जिसके तहत ५१.४५ करोड़ रुपये खर्च हुए। हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बाल-विहार से स्नातकोत्तर स्तर तक के ६.२५ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा दी गयी, जिनमें २.८८ लाख से अधिक छात्राएँ थीं। शिक्षा-कार्य पर ९८.७१ करोड़ रुपये खर्च किये गये। १७.९४ करोड़ रुपये की लागत से कई **ग्रामीण तथा आदिवासी विकास-योजनाओं** का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर हम अपने सदस्यों तथा मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरन्तर सहयोग के लिये आन्तरिक धन्यवाद तथा कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

(स्वामी स्मरणानन्द)

१७ दिसम्बर, २००६ **महासचिव**